दशवैकालिक-उत्तराध्ययन

हिन्दी पद्यानुवाद

अनुवादक

मुनि मांगीलाल 'मुकुल'

प्रबन्ध-सम्पादक :
श्रीचन्द रामपुरिया
निदेशक
आगम और साहित्य प्रकाशन

माघ सुदी ७
विक्रम सवत् २०३२
सन् १९७६

मूल्य : १० रुपये

मुद्रक :
सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस
मौजपुर, शाहदरा
दिल्ली-११००५३

प्रकाशकीय

मुनि श्री मांगीलालजी 'मुकुल' द्वारा प्रस्तुत 'दशवैकालिक-उत्तराध्ययन' का हिन्दी पद्यानुवाद पाठको के सम्मुख उपस्थित करते हुए हर्ष हो रहा है। विद्वद्वर मुनि श्री दुलहराज जी ने अपनी प्रस्तावना मे इस कृति पर विस्तृत प्रकाग डाला है। युग प्रधान परम श्रद्धेय आचार्य श्री तुलसी का आशीर्वाद प्राप्त है। अनुवाद गेय है, अत अति सरस और चित्ताकर्षक वना है।

इस कृति के प्रकाशन का अर्थ-भार श्री तोताराम जगदीश राय (मडी कालावली, हरियाणा) ने वहन किया है, जिसके लिए उन्हे हार्दिक धन्यवाद है। हम आशा करते हैं कि सत्साहित्य के प्रकाशन और प्रचार मे उनका ऐसा उदार सहयोग सस्थान को सदा प्राप्त होता रहेगा।

४६८४, मेन अन्सारी रोड
दिल्ली-६
३-२-७६

श्रीचन्द रामपुरिया
निदेशक
आगम एव साहित्य प्रकाशन विभाग
जैन विश्व भारती

आशीर्वचन

आगम-सम्पादन का काम जब से हाथ मे लिया है, इस कार्य में अनेक साधु-साध्वियाँ लगे हुए हैं। कोई पाठ-सम्पादन के काम मे सलग्न है, कोई शब्द-सूची तैयार कर रहा है, कोई अनुवाद कर रहा है, तो कोई समीक्षात्मक अध्ययन लिख रहा है और कोई टिप्पण, भूमिका आदि के लेखन मे व्यस्त है। ये सब कार्य आगम-सम्पादन के अभिन्न अंग हैं।

मुनि मागीलाल 'मुकुल' ने दशवैकालिक और उत्तराध्ययन सूत्रो का हिन्दी पद्यानुवाद तैयार किया है। इन्होने अपनी दृष्टि से काफी श्रम किया है। मैं इस कार्य को अभ्यास के रूप में स्वीकार करता हूँ। यह प्राथमिक प्रयास है। भविष्य मे इन्हे अपने कार्य मे विशेष गतिशील रहना है। दशवैकालिक और उत्तराध्ययन का यह सरल, सुबोध पद्यानुवाद जन-जन के लिए उपयोगी बने, इसी आशा के साथ—

आचार्य तुलसी

ग्रीन हाउस,
सी-स्कीम, जयपुर
२५-१०-७५

प्रस्तावना

जैन आगम चार भागो मे विभक्त है—१ अग २ उपाग ३ मूल और ४ छेद। अग ११, उपाग १२, मूल ४ और छेद ४ हैं। प्रस्तुत कृति 'मूल' विभाग से सबधित है, अत इस विषय मे कुछ ऊहापोह करना प्रसगप्राह्य है।

'मूल' विभाग बहुत प्राचीन नही है। सभव है, यह विभाग विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी के बाद का है। आगमो मे केवल अंगप्रविष्ट और अगबाह्य—यह विभाग प्राप्त होता है। जब आगम-पुरुष की कल्पना हुई तब यह विभाग हुआ और मूल-स्थानीय सूत्रो की समायोजना की गई। प्राचीन श्रुत-पुरुष की रेखाकृति मे चरण (मूल) स्थानीय दो आगम थे—आचाराग और सूत्रकृताग। अर्वाचीन श्रुत-पुरुष की रेखाकृति मे इनमे परिवर्तन हुआ। इन दो आगमो के स्थान पर दशवैकालिक और उत्तराध्ययन—ये दो आगम आ गए।

कितने और कौन-कौन से आगम 'मूल' सज्ञा के अन्तर्गत आते है, इसमे सभी विद्वान एकमत नही हैं। किन्तु अनुयोगद्वार, नदी, उत्तराध्ययन और दशवैकालिक 'मूल' सूत्र हैं, इसे अधिक मान्यता प्राप्त है।

यहां यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि इन्हे 'मूल' सज्ञा क्यो दी गई ? इस प्रश्न को समाहित करने के लिए अनेक विद्वानो ने अनेक आनुमानिक परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। आचार्य श्री तुलसी ने इसकी मीमासा करते हुए लिखा है—दशवैकालिक और उत्तराध्ययन मुनि जीवन की चर्या के प्रारम्भ मे मूलभूत सहायक बनते हैं तथा आगमों का अध्ययन इन्ही के पठन से प्रारम्भ होता है, इसीलिए इन्हे 'मूल' सूत्र की मान्यता मिली, ऐसा प्रतीत होता है। दूसरी बात है—"इनमे मुनि के मूल गुणों—महाव्रत, समिति आदि का निरूपण है, इस दृष्टि से इन्हे 'मूल' सूत्र की सज्ञा दी गई है।"[1]

दशवैकालिक

यह निर्यूहण कृति है। आचार्य शय्यभव श्रुतकेवली थे। उन्होंने अपने पुत्र शिष्य मनक के लिए, विभिन्न पूर्वों से, इसका निर्यूहण किया। वीर निर्वाण की प्रथम शताब्दी मे चपा नगरी मे यह कार्य सपन्न हुआ, ऐसा माना जाता

---

१ दसवेआलिय तह उत्तरज्झयणाणि, भूमिका पृ० ३।

है। इस आगम की रचना से पूर्व नव दीक्षित मुनि को आचाराग के वाद उत्तराध्ययन पढाया जाता था। वाद मे आचाराग का स्थान दशवैकालिक ने ले लिया।

इसके दस अध्ययन और दो चूलिकाएँ हैं। इसमे ५१४ श्लोक तथा ३१ सूत्र हैं। यह आगम पद्यमय है। केवल चौथे, नौवें और प्रथम चूलिका मे गद्यभाग है। यह सूत्र दिगम्वर और श्वेताम्वर—दोनो परम्पराओ को समान रूप से मान्य रहा है। वर्तमान मे श्वेताम्वर परम्परा मे नव दीक्षित मुनि को सर्व प्रथम इसी आगम की वाचना दी जाती है।

इस आगम पर भारतीय आचार्यों ने प्राकृत, संस्कृत तथा गुजराती मिश्रित राजस्थानी मे अनेक व्याख्या-ग्रन्थ लिखे। इन व्याख्या-ग्रन्थो मे विक्रम की ३-५ शताव्दी के महान् आचार्य अगस्त्यसिंह स्थविर द्वारा लिखी गई चूर्णि प्राचीनतम है। इसका पहली वार प्रयोग हमारे यहाँ से सपादित और विवेचित 'दसवेआलिय' मे हुआ है। सस्कृत मे लिखी टीकाओ मे आठवी शताव्दी के महान् आचार्य हरीभद्र द्वारा लिखित टीका विश्रुत है।

यह आगम शैक्ष को मुनि जीवन की प्रारभिक चर्याओ के विधि-विधानो की अवगति देता है तथा अध्यात्म मे लीन रहने की भावना को दृढमूल वनाता है।[1]

उत्तराध्ययन

इसमे दो शव्द हैं—उत्तर और अध्ययन। इस आगम के छत्तीस अध्ययन है। इसके अंतिम श्लोक (३६।२६८) से यह ज्ञात होता है कि यह भगवान् महावीर की अतिम वाणी है। इसका निरूपण करते-करते भगवान् सिद्ध-वुद्ध-मुक्त हुए। कुछेक विद्वान् इसे एककर्तृक नही मानते। हमारा भी यही मानना है कि यह सकलन-सूत्र है।[2] इसका पहला सकलन वीर निर्वाण की प्रथम शताव्दी के पूर्वार्द्ध मे हुआ और उत्तरकालीन सस्करण देवर्धिगणी के समय मे सम्पन्न हुआ।

इसमे ३६ अध्ययन हैं। इसका प्रतिपाद्य विशद है और विभिन्न विषयो को आत्मसात् किए चलता है। एक शव्द मे इस आगम को भगवान् महावीर की विचारधारा का प्रतिनिधि-सूत्र कहा जा सकता है। इसमे १६३८ श्लोक और ८९ सूत्र हैं। यह पद्यात्मक आगम है। केवल उनतीसवाँ अध्ययन गद्यात्मक

1. विस्तार के लिए देखें—दशवैकालिक एक समीक्षात्मक अध्ययन, वाचना प्रमुख आचार्य श्री तुलसी, सपादक-विवेचक—मुनि नथमल।
2. विस्तार के लिए देखें—उत्तराध्ययन . एक समीक्षात्मक अध्ययन, वाचना प्रमुख आचार्य श्री तुलसी, सपादक-विवेचक—मुनि नथमल।

है और दूसरे तथा सोलहवें मे कुछ गद्यभाग है। इस आगम पर अनेक व्याख्या-ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। उनमे सस्कृत भाषा मे लिखी गई 'वृहद्वृत्ति' बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसके कर्त्ता हैं—वादिवेताल शाति सूरी। इनका अस्तित्वकाल विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी है। इस 'वृहद्वृत्ति' के आधार पर बारहवी शताब्दी मे नेमीचन्द्र सूरी ने 'सुखबोधा' नाम की टीका लिखी। उसकी अपनी यह विशेषता है कि उसमे प्राकृत कथाओ का सुन्दर सकलन किया गया है। इस आगम पर जिनदास महत्तर कृत चूर्णि भी प्राप्त होती है, किन्तु वह इतनी विशद नही है।

प्रस्तुत प्रयत्न

दशवैकालिक और उत्तराध्ययन—इन दो आगमो पर हिन्दी मे अनेक व्याख्या-ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। तेरापथ सम्प्रदाय ने भी आगम-सपादन-कार्य प्रारम्भ किया। उसके वाचना प्रमुख हैं—आचार्य तुलसी और सपादक-विवेचक हैं मुनि नथमल। अनेक साधु-साध्वियो का इसमे अविकल योग भी प्राप्त है। कार्य अपनी गति से चल रहा है। अनेक आगम प्रकाशित हो चुके हैं और विद्वत् समाज मे समादृत भी हुए हैं। 'दसवेआलिय' इस नाम से दशवैकालिक सूत्र का हिन्दी अनुवाद तथा विस्तृत टिप्पणी से युक्त सस्करण प्रकाशित हुआ है। साथ-साथ 'दशवैकालिक एक समीक्षात्मक अध्ययन' भी प्रस्तुत सूत्र के विभिन्न पहलुओ पर विशद प्रकाश डालता है। इसी प्रकार 'उत्तरज्झयणाणि' के दो भाग तथा 'उत्तराध्ययन · एक समीक्षात्मक अध्ययन'—ये तीनो ग्रन्थ उत्तराध्ययन की सर्वांगीण व्याख्या के बेजोड ग्रन्थ हैं।

प्रस्तुत प्रयत्न की अपनी विशेषता है। मुनि मुकुलजी ने दोनो आगमो को सरल हिन्दी पद्यो मे गूथ कर जन-जन के लिए सुबोध बना दिया है। आगमो के पद्यात्मक अनुवाद का भी अपना मूल्य होता है, क्योकि आबाल-गोपाल उसको पढने मे रस लेता है। मैं यह कहने का अधिकारी तो नही हूँ कि यह कृति कितनी सशक्त बन पडी है, किन्तु इतना अवश्य कहूँगा कि लोगो के लिए यह उपयोगी सिद्ध होगी। मुनि मुकुलजी ने दो बार इस कृति को सँवारने मे परिश्रम किया, यह उनकी निष्ठा का ही प्रतिफलन है। आगमो की इस पद्यात्मक-विधा का जनता स्वागत करेगी, इसी आशा के साथ—

ग्रीन हाउस,
सी-स्कीम, जयपुर
२० अक्टूबर १९७५

—मुनि दुलहराज

स्वकथ्य

विक्रम संवत् दो हजार सोलह की वात है कि मुनि श्री राजकरणजी उदयपुर डिविजन के लाम्बोडी ग्राम मे विराज रहे थे। वहाँ पर पडित दीनानाथ 'दिनेश' की लिखी हुई गीता का पद्यानुवाद देखने को मिला। उस पुस्तक का आद्योपान्त पारायण करने पर एक वात सूझी कि क्या ही अच्छा हो यदि उत्तराध्ययन सूत्र (जिसे जैन गीता कहा जा सकता है) का इसी ढग से हिन्दी मे पद्यानुवाद तैयार होकर जनता के सामने आए। इससे और नही तो कम से कम साधारण जैन श्रावक समाज को वहुत वडा स्वाध्याय का लाभ मिल सकता है। मैंने मुनि श्री राजकरणजी से निवेदन किया कि आप उत्तराध्ययन सूत्र का हिन्दी मे पद्यानुवाद तैयार करें। उन्होने कहा, तुम्ही तैयार करो। कुछ दिनो तक मैं सोचता रहा। फिर दिमाग मे एक वात आई कि उत्तराध्ययन सूत्र तो वहुत वडा है। पहले दशवैकालिक सूत्र का पद्यानुवाद तैयार किया जाए तो छोटा होने के कारण सुगमता रहेगी।

जेठ के महीने में 'खरणोटा' ग्राम में मैंने दशवैकालिक सूत्र के पहले अध्ययन का पद्यानुवाद लिखकर मुनि जी को दिखाया। उन्होंने उसकी सराहना की। फिर तो आव देखा न ताव रात-दिन इसमें ही जुटा रहा। फलस्वरूप लगभग एक महीने में पद्यानुवाद तैयार हो गया। मुनि श्री राजकरणजी से मैंने इसकी पाण्डुलिपि वनवाई। फिर जव परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर के दर्शन किये तव यह कृति उन्हे भेंट की गई। किन्तु अतीव व्यस्तता के कारण आचार्य प्रवर उस वक्त उसे देख नही पाए। मैंने अपने साथी सन्तो को तथा वडे सन्तो को पद्यानुवाद दिखाया। उन्होने मुझे वहुत थपथपाया।

विक्रम सवत् दो हजार अठारह का चातुर्मास मुनि श्री राजकरणजी का वीकानेर और साहित्य-परामर्शक मुनि श्री वुद्धमलजी का गंगाशहर था। इन दोनो सिघाडो का मिलन नोखामण्डी में हुआ। हम शेष काल में भी महीनो तक साथ रहे। मैंने मुनि श्री वुद्धमलजी से निवेदन किया कि 'दशवैकालिक' का पद्यानुवाद मैंने जो तैयार किया है, आप उसका सशोधन कर दें। आपका वहुत-वहुत आभार मानूंगा। मेरे इस नम्र निवेदन पर उन्होने कृपा करके इसे स्वीकार किया और प्रति दिन एक-डेढ घण्टा उनके समीप वैठकर मैं इसका सशोधन कराता गया। इससे मुझे वहुत वडा लाभ हुआ।

सन् १९६१ के दिसम्वर १० से 'जैन भारती' साप्ताहिक मे इसके क्रमश. सात अध्ययन प्रकाशित हुए। वाद में वि०स० दो हजार उन्नीस के प्रारम्भ में ही मुनि श्री पूनमचन्दजी (श्रीडूगरगढ) ने मेरे से आग्रह किया कि उत्तराध्ययन सूत्र के उन्नीसवें अध्ययन का पद्यानुवाद मुझे वनाकर दो, क्योकि वह मुझे वहुत

प्रिय है। मैं उनका आग्रह टाल नही सका। केवल छह दिनो में उनका पद्यानुवाद बनाकर उनको दिया। वे बडे प्रसन्न हुए। फिर बीसवें तथा इक्कीसवें अध्ययन का पद्यानुवाद हिसार पहुँचने पर तैयार किया। तब यह आत्म-विश्वास पैदा हुआ कि अब समस्त उत्तराध्ययन का पद्यानुवाद किया जा सकता है। फिर मैं अनुवाद-कार्य में जुट गया। अनेक उतार-चढाव आए। अन्त में वि० सं० २०१६ चैत्र कृष्ण ५ को कार्य पूरा हुआ और उसके साथ-साथ वर्षो से संजोई हुई मेरी साध भी पूरी हुई। आत्मतोष से मन भर गया।

लाडनू मे परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर के दर्शन होने पर जब यह कृति भेंट की गई तो करीब बीस मिनट तक अवलोकन के पश्चात् गुरुदेव ने फरमाया कि 'अच्छी मेहनत की है। ठीक बनाया।'

'जैन भारती' मासिक सन् १९६८ मार्च के अङ्क में इसका तेईसवां अध्ययन 'केशी-गौतम संवाद' प्रकाशित हुआ। फिर जून के अङ्क से क्रमश. आठ अध्ययन प्रकाशित हुए।

वि० स० दो हजार उन्तीस के मर्यादा-महोत्सव पर साहित्य उपसमिति का गठन हुआ। उसके निर्णयानुसार अप्रकाशित साहित्य को भेंट करना अनिवार्य था। मैंने यह कृति भी भेंट की। उपसमिति ने कुछ सुझाव देते हुए कहा कि इन दोनो ही कृतियो का पुन' अवलोकन किया जाय। उस परामर्श के अनुसार वि० स० दो हजार इकतीस पचपदरा मे लगभग छह महीनो तक इसी में लगा रहा। पुन इन दोनो कृतियो को संशोधित कर उपसमिति के समक्ष रखा। उपसमिति ने इन्हे मान्यता दे दी। 'जैन विश्व भारती' ने इन्हे पुस्तक का रूप दे दिया।

मैं कहाँ तक सफल रहा, इसका निर्णय विज्ञ पाठकों पर ही छोडता हूँ। किन्तु मुझे जो आनन्दानुभूति हुई, समय का सदुपयोग हुआ, चित्त की एकाग्रता रही, वह निश्चित ही अनिर्वचनीय है।

अत मुज्ञ पाठको से एक निवेदन करना आवश्यक समझता हूं कि जहाँ कही भी इन कृतियो में कमियाँ ध्यान में आयें, मुझे बतलाने का कष्ट करें, ताकि अगले सस्करण में मैं उनका संशोधन-परिमार्जन कर सकूँ।

अन्त में तेरापथ शासन एव युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी का मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, जिन्होने मेरे जैसे पामर प्राणी पर अपना वरद हस्त रखकर उसे दो अक्षर बोलने एवं लिखने लायक बनाया।

इस अवसर पर मैं मुनि श्री दुलहराजजी को भी नही भुला सकता, जिन्होंने अन्यान्य सहयोग के अतिरिक्त इसकी प्रस्तावना लिखकर भी मुझे अनुगृहीत किया है।

आसीन्द (भीलवाड़ा), राजस्थान
वि० स० २०३२, आश्विन शुक्ला ८
१२।१०।७५

मुनि मुकुल

विषय-सूची

पृष्ठ

दशवैकालिक

मंगलाचरण

विघ्न-विनाशक, विमलतम, विगत-मोह, विद्वेष ।
विशद, विबुध, विभु वीर का, करता विनय विशेष ॥१॥

भिक्षु आदि गणपति नवक, जिन-प्रतिनिधि गुरुदेव ।
जगदुद्धारक दे मुझे, सन्मति सुगुण सदैव ॥२॥

दशवैकालिक सूत्र यह, प्राकृतमय अनवद्य ।
हिन्दी पद्यों में, इसे, गुम्फित करता सद्य ॥३॥

पहला अध्ययन

द्रुमपुष्पिका

*धर्म सर्वोत्कृष्ट मंगल, अहिंसा तप त्याग है,
देव भी नमते जिसे, नित धर्म से अनुराग है ॥१॥

यथा द्रुम के पुष्प का रस, स्वल्प पीता है भ्रमर,
नही सुम को म्लान करता, और भरता निज उदर ॥२॥

मुक्त ऐसे श्रमण होते, साधु-जन इस भुवन मे,
दान-भक्त-गवेषणा-रत, विहंगम ज्यों सुमन में ॥३॥

वृत्ति पाएगे वही, जिससे न पर को हो व्यथा,
यथाकृत-रत घूम घर-घर, भ्रमर पुष्पो पर यथा ॥४॥

जो कि मधुकर-सम अनिश्रित, बुद्ध होते दान्त हैं,
रक्त नाना-पिण्ड में, इससे कहाते संत है ॥५॥

दूसरा अध्ययन

श्रामण्यपूर्वक

*श्रमणता कैसे निभाए, काम-उपरत जो न हो,
सीदता हर कदम पर, सकल्प से वह विवश हो ॥१॥

वसन, भूषण, सुरभि, वनिता और शय्यादिक सभी।
छोडता जो विवश हो, त्यागी न कहलाता कभी ॥२॥

प्राप्त जो प्रिय कान्त भोगो को दिखाता पीठ है।
स्ववश भोग तजे वही, त्यागी कहाता श्रेष्ठ है ॥३॥

†समता मे रहते यदि बाहर कभी निकल जाए यह मन।
वह मेरी न कभी मैं उसका, तजे राग यो सोच श्रमण ॥४॥

निज को तपा, सौकुमार्य तज, काम-विजय से दु ख-विजय।
छेद दोष तज राग सुखी यों, संसृति मे होगा निश्चय ॥५॥

*धूमकेतुक, दुरासद, प्रज्वलित पावक मे सही।
अगन्धन-कुल सर्प पड़ते, वान्त फिर लेते नही ॥६॥

धिक् तुझे है यश.कामिन्! भोग जीवन के लिए।
वमन पीना चाहता तो, मृत्यु शुभ तेरे लिए ॥७॥

पुत्र अन्धक-वृष्णि का तू, भोज-पुत्री मैं अहो।
हम न गन्धन-कुल सदृश हो, अचल सयम में रहो ॥८॥

राग-भाव अगर करेगा, नारियो को देखकर।
वायु-आहत हट[1] सदृश, अस्थिर बनेगा शीघ्रतर ॥९॥

वह सुभाषित वचन, उस सयमवती के श्रवण कर।
धर्म मे स्थिर हुआ ज्यो, अंकुश-प्रशासित गज-प्रवर ॥१०॥

बुद्ध, पडित, विचक्षण, इस भाँति करते हैं सदा।
भोग से होते अलग जैसे कि पुरुषोत्तम मुदा ॥११॥

---

१ वनस्पति विशेष।

क्षुल्लकाचार

*चरित सुस्थित, आत्म-त्रायी, मुक्त ऋषि निर्ग्रन्थ हैं।
कहे उनके लिए ये सब, अनाचीर्ण नितान्त हैं ॥१॥

क्रीतकृत[1] उद्दिष्ट[2] फिर नित्याग्र[3] अभिहृत[4] अशन भी।
रात्रि-भोजन, स्नान, सौरभ, पुष्प-माला व्यजन[5] भी ॥२॥

वस्तु-सचय, गृहि-अमत्र[6] व किमिच्छक[7] नृप-भोजनम्।
दन्त-क्षालन, विमर्दन, तन-विलोकन, सप्रच्छनम्[8] ॥३॥

[9]नालिकाष्टापद[10] तथा फिर छत्र-धारण बीसवाँ।
चिकित्सा, पादुका, शिखि-आरम्भ है तेबीसवाँ ॥४॥

पिण्ड-शय्यातर व आसन, पलगों पर बैठना।
गृहान्तर मे बैठना औ गात्र की उद्वर्तना ॥५॥

गृही की सेवा पुनः आजीव-वृत्ति तथा यहाँ।
मिश्र-भोजन भोगना आतुर-स्मरण है फिर कहा ॥६॥

मूल[11], अदरक, इक्षुखण्ड व कद, मूल[12] सचित्त है।
सभी फल औ बीज कच्चे चेतना सयुक्त है ॥७॥

नमक सौवर्चल व सैधव रुमा लवण अपक्व भी।
सिन्धु-उद्भव और पाशु-क्षार काला नमक भी ॥८॥

---

१. निर्ग्रन्थ के निमित्त खरीदा गया। २ साधु के निमित्त बनाया गया। ३ आदर-पूर्वक निमन्त्रित कर प्रतिदिन दिया जाने वाला आहार। ४ साधु के निमित्त दूर से सम्मुख लाया गया। ५ पखा झेलना। ६. गृहस्थी के पात्र मे भोजन करना। ७. 'कौन क्या चाहता है ?' यो पूछकर दिया जाने वाला भोजन। ८ गृहस्थ की कुशल पूछना या शरीर पोछना। ९ नलिका से पासा डालकर जुआ खेलना। १०. शतरंज खेलना। ११ मूली। १२. जड़।

धूम-नेत्र[1], वमन, विरेचन, वस्तिकर्म[2] तथा कहा।
दन्तवण, अञ्जन व गात्राभ्यङ्ग व विभूषण रहा ॥९॥

महाऋषि निर्ग्रन्थ हित, ये अनाचीर्ण सभी कहे।
जो कि संयम-युक्त हो लघुभूत विहरण कर रहे ॥१०॥

षट्क-संयत, त्यक्त-पंचास्रव, त्रिगुप्ति-सुगुप्त है।
पंच-निग्रह, धीर, ऋजुदर्शी वही निर्ग्रन्थ है ॥११॥

ग्रीष्म मे आतापते, हेमन्त में तजते वसन।
रहे प्रतिसलीन पावस मे, समाहित संत-जन ॥१२॥

परीषह-रिपु दमनकर्त्ता, धूतमोह रहे मुदा।
जितेन्द्रिय सब दु:ख-नाशन-हित पराक्रम रत सदा ॥१३॥

कष्ट दु:सह सहन कर, दुष्कर क्रिया करके कई।
दिवंगत होते व नीरज सिद्ध होते हैं कई ॥१४॥

त्याग तप से पूर्व कर्मो को खपा त्रायी महा।
सिद्धि पथ-अनुप्राप्त वे, निर्वाण पाते हैं कहा ॥१५॥

---

१. धूम्र-पान की नलिका रखना।
२. रोग की सभावना से बचने के लिए अपान-मार्ग से तैल आदि चढ़ाना।

चौथा अध्ययन

षड्जीवनिका

*सुना आयुष्मन्! यहाँ आख्यात स्थविर महान् से।
यो छःजीवनिकाय नामक अध्ययन मैंने इसे ॥१॥

श्रमण भगवत् वीर काश्यप से प्रवेदित है सही।
सूक्त है प्रज्ञप्त सम्यक् कह रहा तुम से वही ॥२॥

अध्ययन यह श्रेयकर है लिए आत्मा के महा।
धर्म का सद्बोध इसका पठन हितकर है कहा ॥३॥

कौन-सा षट्जीवसमुदय नाम वह अध्ययन है।
कथित जिसमें श्रमण भगवत् वीर काश्यप वचन हैं ॥४॥

प्रवेदित प्रज्ञप्त है कल्याणकर उसका पठन।
धर्म का सद्बोध जिसमे, करूँगा उसका मनन ॥५॥

यह छःजीवनिकाय नामक अध्ययन प्रज्ञप्त है।
श्रमण भगवत् वीर काश्यप से प्रवेदित सूक्त है ॥६॥

अध्ययन वह श्रेयकर है लिए आत्मा के महा।
धर्म का सद्बोध इसका पठन हितकर है कहा ॥७॥

भूमि अप्कायिक व तेजो वायुकायिक तद्यथा।
वनस्पतिकायिक पुनः त्रसकाय प्राणी हैं तथा ॥८॥

शस्त्र-परिणति के बिना पृथ्वी सचित्त सुकथित है।
हैं अनेको जीव जिनका भिन्न ही अस्तित्व है ॥९॥

शस्त्र-परिणति के बिना पानी सचित्त सुकथित है।
हैं अनेको जीव जिनका भिन्न ही अस्तित्व है ॥१०॥

शस्त्र-परिणति के बिना पावक सचित्त सुकथित है।
हैं अनेको जीव जिनका भिन्न ही अस्तित्व है ॥११॥

शस्त्र-परिणति के बिना मारुत सचित्त सुकथित है।
हैं अनेको जीव जिनका भिन्न ही अस्तित्व है ॥१२॥

शस्त्र-परिणति के बिना सब हरित कथित सचित्त है।
है अनेकों जीव जिनका भिन्न ही अस्तित्व है ॥१३॥

अग्र-बीजक, मूल-बीजक, पर्व-बीजक तद्यथा।
स्कन्ध-बीजक, बीजरुह, संमूर्च्छिमक है तृणलता ॥१४॥

शस्त्र-परिणति बिन सबीजक हरित कथित सचित्त है।
हैं अनेकों जीव जिनका भिन्न ही अस्तित्व है ॥१५॥

और त्रस प्राणी अनेको जो यहाँ पर कथित है।
तद्यथा अंडज, जरायुज, रसज, पोतज प्रथित है ॥१६॥

स्वेदजोद्भिज्ज, समूच्छिम, औपपात सकर्म है।
इन किन्ही का सामने आना व जाना धर्म है ॥१७॥

गात्र का सकोचना या फिर प्रसारण ध्वनन है।
घूमना, डरना, पलायन ज्ञात गमनागमन है ॥१८॥

और जो कीड़े, पतगे, कुथु अथवा चीटियाँ।
सभी द्वीन्द्रिय सभी त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिया ॥१९॥

सभी पंचेन्द्रिय व तिर्यग् सभी नारक मनुज भी।
सुर सभी हैं तथा सुख के इच्छु हैं प्राणी सभी ॥२०॥

यही जीवनिकाय छट्ठा काय त्रस निश्चय कहा।
अत. हिसा छोड़ दो यह सीख आगम दे रहा ॥२१॥

नही दण्डाऽरंभ इन षट्काय जीवों का सही।
करे करवाये तथा फिर भला भी समझे नही ॥२२॥

त्रिविध-त्रिविध मनोवचन तन से न करता उम्र-भर।
नही करवाता व अनुमोदन न करता आर्यवर ॥२३॥

पूर्वकृत का प्रतिक्रमण निन्दा व गर्हा कर रहा।
आत्म का व्युत्सर्ग कर भगवन् ! सतत अघ हर रहा ॥२४॥

महाव्रत पहला प्रभो ! प्राणातिपात-विरमण है।
त्यागता हूँ सर्व भगवन् ! प्राणवध भव-भ्रमण है ॥२५॥

सूक्ष्म, बादर, त्रस व स्थावर प्राणवध मैं स्वकर से।
करूँगा न स्वय, कराऊँगा नही मैं अपर से ॥२६॥

भला समझूँगा न वध करते हुए को उम्र-भर।
त्रिविध-त्रिविध मनोवचन तन से न करता आर्यवर ॥२७॥

कराऊँगा, नही, करते हुए की अनुमोदना।
नही करता, पूर्वकृत की कर रहा आलोचना ॥२८॥

प्रतिक्रमण निन्दा व गर्हा कर रहा अनुताप मैं।
आत्म का व्युत्सर्ग कर भगवन् ! बना निष्पाप मैं ॥२९॥

उपस्थित पहले महाव्रत मे हुआ प्रभु ! आप से।
सर्वथा प्राणातिपात-विमुक्त हूं संताप से ॥३०॥

बाद इसके दूसरा भगवन् ! महाव्रत सार है।
मृषावाद-विरमण व्रत यह सत्य जगदाधार है ॥३१॥

झूठ को मैं त्यागता हूं हे प्रभो ! अब सर्वथा।
क्रोध, लोभ व हास्य, भय से चतुर्धा है जो यथा ॥३२॥

झूठ खुद बोलूं न बुलवाऊँ अपर से भी नही।
और जो बोले उसे अच्छा नही समझूं कही ॥३३॥

त्रिविध-त्रिविध मनोवचन तन से न करता उम्र-भर।
नही करवाता व अनुमोदन न करता आर्यवर ॥३४॥

पूर्वकृत का प्रतिक्रमण निन्दा व गर्हा कर रहा।
आत्म का व्युत्सर्ग कर भगवन् ! सतत अघ हर रहा ॥३५॥

दूसरे इस महाव्रत मे हूँ उपस्थित आप से।
सर्वथा तज झूठ को प्रभु मुक्त हूँ संताप से ॥३६॥

बाद इसके तीसरा भगवन् ! महाव्रत श्रेय है।
सब अदत्तादान-विरमण नियम समुपादेय है ॥३७॥

त्यागता हूँ अब अदत्तादान को मैं सर्वथा।
ग्राम, नगर, अरण्य मे षड्भेद इसके हैं यथा ॥३८॥

अल्प, बहु, अणु, स्थूल वस्तु सचित्त और अचित्त ही।
मैं अदत्त न ग्रहण करता तथा करवाता नही ॥३६॥

ग्रहण करते को भला समझू नही मैं उम्र-भर।
त्रिविध-त्रिविध मनोवचन तन से न करता आर्यवर ॥४०॥

कराऊँगा नही करते हुए की अनुमोदना।
नही करता, पूर्वकृत की कर रहा आलोचना ॥४१॥

प्रतिक्रमण निन्दा व गर्हा कर रहा अनुताप मैं।
आत्म का व्युत्सर्ग कर भगवन्! बना निष्पाप मैं ॥४२॥

तीसरे इस महाव्रत में हूँ उपस्थित आप से।
सब अदत्तादान तज प्रभु मुक्त हूँ संताप से ॥४३॥

बाद इसके है प्रभो! चौथा महाव्रत घोर है।
सर्व मैथुन छोड़ना यह व्रत अतीव कठोर है ॥४४॥

त्यागता हूँ मैं प्रभो! इस मिथुन को जो हेय है।
सुर-मनुज-तिर्यंच-योनिक भेद इसके ज्ञेय हैं ॥४५॥

नहीं खुद सेवन करूँ पर से कराऊँगा नहीं।
मिथुन करते हुए पर को भला समझूगा नही ॥४६॥

त्रिविध-त्रिविध मनोवचन तन से न करता उम्र-भर।
नही करवाता व अनुमोदन न करता आर्यवर ॥४७॥

पूर्वकृत का प्रतिक्रमण निन्दा व गर्हा कर रहा।
आत्म का व्युत्सर्ग कर भगवन्! सतत अघ हर रहा ॥४८॥

उपस्थित चौथे महाव्रत में हुआ प्रभु आप से।
छोड़कर सब मिथुन भगवन्। मुक्त हूँ संताप से ॥४९॥

बाद इसके पाँचवाँ भगवन्! महाव्रत इष्ट है।
सब परिग्रह से निवर्तन व्रत अतीव विशिष्ट है ॥५०॥

मैं परिग्रह त्यागता हूँ अहो भगवन्! सर्व ही।
अल्प, बहु, अणु, स्थूल वस्तु सचित्त और अचित्त ही ॥५१॥

ग्रहण करता खुद नही पर से कराऊँगा नही।
ग्रहण करते हुए पर को भला समझूंगा नहीं ॥५२॥

त्रिविध-त्रिविध मनोवचन तन से न करता उम्र-भर।
नहीं करवाता व अनुमोदन न करता आर्यवर ॥५३॥

पूर्वकृत का प्रतिक्रमण निन्दा व गर्हा कर रहा।
आत्म का व्युत्सर्ग कर भगवन् ! सतत अघ हर रहा ॥५४॥

पाँचवें इस महाव्रत मे हूँ उपस्थित आप से।
सब परिग्रह छोड़ कर प्रभु मुक्त हू संताप से ॥५५॥

बाद इसके रात्रि-भोजन विरति व्रत छठा कहा।
सर्वथा मैं रात्रि-भोजन अहो भगवन् ! तज रहा ॥५६॥

अशन पानी खाद्य स्वाद्यक रात्रि मे खाऊँ नही।
और न खिलाऊँ व खाते को भला समझू नही ॥५७॥

त्रिविध-त्रिविध मनोवचन तन से न करता उम्र-भर।
नही करवाता व अनुमोदन न करता आर्यवर ॥५८॥

पूर्वकृत का प्रतिक्रमण निन्दा व गर्हा कर रहा।
आत्म का व्युत्सर्ग कर भगवन् ! सतत अघ हर रहा ॥५९॥

उपस्थित इस छठे व्रत मे, मैं हुआ हूँ आप से।
रात्रि-भोजन सर्वथा तज मुक्त हूँ संताप से ॥६०॥

महाव्रत ये पाँच फिर निशि-भुक्ति-विरमण व्रत यही।
आत्म-हित स्वीकार करके मैं विचरता हूँ सही ॥६१॥

साधु-साध्वी गण सुसंयत विरत प्रतिहत-अघ सदा।
और प्रत्याख्यात-पापाचरण रहता सर्वदा ॥६२॥

दिवस मे, निशि मे, अकेला और परिषद मे कदा।
नीद मे सोया हुआ या जागता रहता यदा ॥६३॥

भूमि, भित्ति, शिला व ढेले रज-सहित तन वस्त्र हो।
हाथ पग व खपाच काष्ठ व अंगुली या छड़ अहो ॥६४॥

शलाका-संघात से उसको न आलेखन करे।
और न विलेखन करे घट्टन व भेदन परिहरे ॥६५॥

और ये सब अन्य जन से भी न करवाये कभी।
तथा अनुमोदन तजे यह कह रहे गुणिजन सभी ॥६६॥

त्रिविध-त्रिविध मनोवचन तन से न करता उम्र-भर।
नहीं करवाता व अनुमोदन न करता आर्यवर ॥६७॥

पूर्वकृत का प्रतिक्रमण निन्दा व गर्हा कर रहा।
आत्म का व्युत्सर्ग कर भगवन् ! सतत अघ हर रहा ॥६८॥

साधु-साध्वी गण सुसंयत विरत प्रतिहृत-अघ सदा।
और प्रत्याख्यात-पापाचरण रहता सर्वदा ॥६९॥

दिवस मे, निशि में, अकेला और परिषद् मे कदा।
नीद में सोया हुआ या जागता रहता यदा ॥७०॥

उदक, ओस व हिम, कुहासा करक हरतनु नीर को।
शुद्ध पानी को तथा जल-स्निग्ध वस्त्र, शरीर को ॥७१॥

स्वल्प भीगे को नही फिर स्पर्श न्यूनाधिक करे।
और आपीडन-प्रपीडन से निरन्तर हो परे ॥७२॥

नही झाड़े औ सुखाए एकधा बहुधा यमी।
नही करवाये न अनुमोदे किसी को भी शमी ॥७३॥

त्रिविध-त्रिविध मनोवचन तन से न करता उम्र-भर।
नही करवाता व अनुमोदन न करता आर्यवर ॥७४॥

पूर्वकृत का प्रतिक्रमण निन्दा व गर्हा कर रहा।
आत्म का व्युत्सर्ग कर भगवन् ! सतत अघ हर रहा ॥७५॥

साधु-साध्वी गण सुसयत विरत प्रतिहृत-अघ सदा।
और प्रत्याख्यात-पापाचरण रहता सर्वदा ॥७६॥

दिवस मे, निशि मे, अकेला और परिषद मे कदा।
नीद मे सोया हुआ या जागता रहता यदा ॥७७॥

अग्नि या अगार चिनगारी शिखा ज्वाला विपुल।
काष्ठ-पावक शुद्ध पावक और उल्कादिक अतुल ॥७८॥

नही उत्सेचन तथा घट्टन क्रिया मुनिवर करे।
और उज्ज्वालन व विध्यापन क्रिया से हो परे ॥७९॥

और ये सब अन्य जन से भी न करवाये कभी।
तथा अनुमोदन तजे यह कह रहे गुणिजन सभी ॥८०॥

त्रिविध-त्रिविध मनोवचन तन से न करता उम्र-भर।
नही करवाता व अनुमोदन न करता आर्यवर ॥८१॥

पूर्वकृत का प्रतिक्रमण निन्दा व गर्हा कर रहा।
आत्म का व्युत्सर्ग कर भगवन् ! सतत अघ हर रहा ॥८२॥

साधु-साध्वी गण सुसंयत विरत प्रतिहत-अघ सदा।
और प्रत्याख्यात-पापाचरण रहता सर्वदा ॥८३॥

दिवस में, निशि मे, अकेला और परिषद मे कदा।
नीद में सोया हुआ या जागता रहता यदा ॥८४॥

चमर व्यजन व तालवृन्तक पत्र अथवा खड से।
वृक्ष-शाखा, प्रशाखा या मोर-पिच्छी, पख से ॥८५॥

वस्त्र वस्त्रांचल तथा निज हाथ या मुख से अरे।
बाह्य पुद्गल या स्वतन को फूंक दे न हवा करे ॥८६॥

और ये सब अन्य जन से भी न करवाये कभी।
तथा अनुमोदन तजे यह कह रहे गुणिजन सभी ॥८७॥

त्रिविध-त्रिविध मनोवचन तन से न करता उम्र-भर।
नही करवाता व अनुमोदन न करता आर्यवर ॥८८॥

पूर्वकृत का प्रतिक्रमण निन्दा व गर्हा कर रहा।
आत्म का व्युत्सर्ग कर भगवन् ! सतत अघ हर रहा ॥८९॥

साधु-साध्वी गण सुसंयत विरत प्रतिहत-अघ सदा।
और प्रत्याख्यात-पापाचरण रहता सर्वदा ॥९०॥

दिवस मे, निशि मे, अकेला और परिषद् मे कदा।
नीद मे सोया हुआ या जागता रहता यदा ॥९१॥

बीज अंकुर हरित जातक छिन्न-शाखादिक यथा।
और इन सब पर प्रतिष्ठित वस्तुओं पर भी तथा ॥९२॥

घुण व अंडे सहित लक्कड़ पर न ठहरे आर्यवर!
तथा बैठे चले सोये भी नही संयत प्रवर ॥९३॥

और ये सब अन्य जन से भी न करवाये कभी।
तथा अनुमोदन तजे यो कह रहे गुणिजन सभी ॥९४॥

त्रिविध-त्रिविध मनोवचन तन से न करता उम्र-भर।
नही करवाता व अनुमोदन न करता आर्यवर ॥६५॥

पूर्वकृत का प्रतिक्रमण निन्दा व गर्हा कर रहा।
आत्म का व्युत्सर्ग कर भगवन्! सतत अघ हर रहा ॥६६॥

साधु-साध्वी गण सुसंयत, विरत, प्रतिहत-अघ, सदा।
और प्रत्याख्यात-पापाचरण रहता सर्वदा ॥६७॥

दिवस में, निशि मे, अकेला और परिषद् में कदा।
नीद में सोया हुआ या जागता रहता यदा ॥६८॥

कीट-शलभ पिपीलिका या कुंथु हों यदि हाथ पर।
पग, भुजा, जंघा, उदर, सिर, वस्त्र अथवा पात्र पर ॥६९॥

रजोहर पर और गोच्छक तथा उंदुक आदि पर।
दण्ड पीठ व फलक शय्या और संस्तारादि पर १००॥

इस तरह के अन्य उपकरणादि पर प्राणी पड़े।
यत्न से प्रतिलेखना कर बार-बार परे करे ॥१०१॥

प्रमार्जन करके रखे एकान्त में सम्यक् उन्हे।
कष्ट पहुँचे उस तरह न रखे इकट्ठे कर उन्हे ॥१०२॥

अयतना से घूमता वह प्राणि-वध करता सही।
बन्ध होता पाप का जिसका कि फल है कटुक ही ॥१०३॥

अयतना से खडा होता प्राणि-वध करता वही।
बन्ध होता पाप का जिसका कि फल है कटुक ही ॥१०४॥

अयतना से बैठता वह प्राणि-वध करता सही।
बन्ध होता पाप का जिसका कि फल है कटुक ही ॥१०५॥

अयतना से लेटता वह प्राणि-वध करता सही।
बन्ध होता पाप का जिसका कि फल है कटुक ही ॥१०६॥

अयतना से जीमता वह प्राणि-वध करता सही।
बन्ध होता पाप का जिसका कि फल है कटुक ही ॥१०७॥

अयतना से बोलता वह प्राणि-वध करता सही।
बन्ध होता पाप का जिसका कि फल है कटुक ही ॥१०८॥

ठहरना, चलना व सोना, बैठना कैसे कहो।
बोलना, खाना मुझे कैसे, न ज्यों अघ-बन्ध हो ? ॥१०९॥

यत्न से चलना, ठहरना, बैठना, सोना अहो।
यत्न से बोलना, खाना, ज्यों नही अघ-बन्ध हो ॥११०॥

आत्मवत् सब जीव जिसके, तथा सम्यक् दृष्टि हो।
पिहित-आस्रव दान्त मुनि के, नही अघ की सृष्टि हो ॥१११॥

ज्ञान पहले फिर दया यों सभी स्थित हैं सयमी।
अज्ञ नर क्या करे कैसे श्रेय, अघ जाने भ्रमी ? ॥११२॥

जानता सुन श्रेय को अश्रेय को भी श्रवण कर।
अभय को सुन जानता धारे कि जो हो श्रेयतर ॥११३॥

जानता जो जीव को न अजीव को भी जानता।
अज्ञ जीवाजीव का क्या चरित को पहचानता ॥११४॥

जीव को जो जानता व अजीव को भी जानता।
विज्ञ जीवाजीव का, वह चरण को पहचानता ॥११५॥

जानता जो जीव और अजीव दोनो को यदा।
सभी जीवो की विविध गति जान लेता है तदा ॥११६॥

सभी जीवो की विविध गति जान लेता है यदा।
पुण्य, पाप व बन्ध, शिव को जान पाता है तदा ॥११७॥

पुण्य, पाप व बन्ध, शिव को जान पाता है यदा।
त्यागता सब देव मनुजोत्पन्न भोगो को तदा ॥११८॥

त्यागता सब देव मनुजोत्पन्न भोगों को यदा।
छोडता संयोग बाह्याभ्यन्तरो का वह तदा ॥११९॥

छोड़ता संयोग बाह्याभ्यन्तरो का वह यदा।
प्रव्रजित मुण्डित स्वय अनगार होता है तदा ॥१२०॥

प्रव्रजित मुण्डित स्वय अनगार होता है यदा।
अनुत्तर उत्कृष्ट संवर धर्म अपनाता तदा ॥१२१॥

अनुत्तर उत्कृष्ट संवर-धर्म अपनाता यदा।
ज्ञान-आवारक निरन्तर कर्म-रज धुनता तदा ॥१२२॥

ज्ञान-आवारक निरन्तर कर्म-रज धुनता यदा।
सर्वगामी ज्ञान दर्शन प्राप्त करता है तदा ॥१२३॥

सर्वगामी ज्ञान दर्शन प्राप्त करता है यदा।
जान लोकालोक लेता केवली जिनवर तदा ॥१२४॥

जान लोकालोक लेता केवली जिनवर यदा।
रोक करके योग, पाता दशा शैलेशी तदा ॥१२५॥

रोक करके योग, पाता दशा शैलेशी यदा।
कर्म-क्षय कर रज-रहित बन सिद्धि पाता है तदा ॥१२६॥

कर्म-क्षय कर रज-रहित बन सिद्धि पाता है यदा।
लोकशीर्ष स्थित व शाश्वत सिद्ध होता है तदा ॥१२७॥

[1]सुख-आस्वादक सुख-आकुल बहु शयन जो कि करता यति है।
प्रक्षालन मे जो अयत्न है दुर्लभ उसको सद्गति है ॥१२८॥

तप-गुण-प्रमुख सरल मति जो मुनि क्षमा व सयम मे रत है।
जित्-परीषह जो है मुनि उसकी सुलभ कही सद्गति नित है ॥१२९॥

[पीछे से चलकर भी अमर-भवन तक शीघ्र पहुँच पाते।
जो तप संयम क्षमा शील को बडे प्रेम से अपनाते ॥]

*यह छ.जीवनिकाय सम्यक्दृष्टि मुनि नित साधता।
प्राप्त दुर्लभ श्रमणता को कर्मणा न विराधता ॥१३०॥

पाँचवाँ अध्ययन

पिण्डैषणा (प्रथम उद्देशक)

*असंभ्रान्त तथा अमूर्छित साधु भिक्षा-काल मे।
भक्त, पान गवेषता इस भाँति विश्व विशाल मे ॥१॥

गोचरी-गत ग्राम-नगरो मे श्रमण धीमे चले।
अनुद्विग्न प्रशान्तचेता दूर पापो से टले ॥२॥

सामने युग-मात्र भू को देख निज पग को धरे।
बीज प्राणी हरित उदक व मृत्तिका वर्जित करे ॥३॥

गर्त अथवा स्थाणु हो पथ विषम या पकिल धरा।
इन्हें संक्रम[1] से न लाँघे, अगर पथ हो दूसरा ॥४॥

क्योंकि गिरने या फिसलने का सदा भय है जहाँ।
घात संभव त्रस व स्थावर प्राणभूतो की वहाँ ॥५॥

इसलिए संयत समाहित मुनि न उस पथ मे चले।
यत्न से जाए अगर पथ दूसरा न उसे मिले ॥६॥

जहाँ गोबर, राख, तुष या कोयलो का ढेर हो।
उन्हे सयत नही लाँघे रज सहित यदि पैर हों ॥७॥

पड़े वर्षा धुहर आए चले आँधी जोर से।
जीव उड पड़ते अगर हो, गमन न करे ठौर से ॥८॥

शील-रक्षक न जाए वेश्या-निवेशो के निकट।
ब्रह्मचारी दान्त को भी हो विस्रोतसिका विकट ॥९॥

वहाँ बारम्बार, जाने से सतत संसर्ग हो।
व्रत-निपीड़ित हो तथा श्रामण्य मे सदेह हो ॥१०॥

१. नल या गड्ढे को पार करने के लिए काष्ठ या पाषाण रचित पुल।

अतः दुर्गति-दोष-वर्धक जान करके दान्त हैं।
तजे वेश्या-सन्निवेश, शिवेच्छु जो एकान्त हैं ॥११॥

श्वान या नव-प्रसूता गौ, दृप्त हय-गज-बैल को।
दूर से ही तजे मुनि रण, कलह औ शिशु-खेल को ॥१२॥

हो नही उन्नत व अवनत हृष्ट औ आकुल कदा।
यथाविधि इन्द्रिय-दमन करता हुआ विचरे सदा ॥१३॥

दौड़ता, हँसता तथा फिर बोलता न चले मुनि।
जब कि उच्चावच कुलो में गोचरी जाए गुणी ॥१४॥

न देखे चलते समय आलोक थिग्गल[1] द्वार को।
संधि, जल-गृह को तजे, सदेह के आधार को ॥१५॥

नृप, गृहस्थी, कोतवालो की जगह जो गुप्त हो।
दूर से ही तजे जो स्थल क्लेश से सयुक्त हों ॥१६॥

तजे गर्हित कुल तथा गृहपति जहाँ वर्जित करे।
छोड़ अप्रीतिकर कुल, प्रीतिकर कुल मे संचरे ॥१७॥

पिहित-सण-प्रावार से, गृह को स्वयं खोले नही।
उघाड़े न कपाट को, जब तक कि आज्ञा ले नही ॥१८॥

गोचरी-गत मुनि, नही मल-मूत्र बाधा धारता।
देख प्रासुक भूमि आज्ञा ले, तुरंत निवारता ॥१९॥

निम्न-द्वारिका तमोमय कोष्ठक तजे मुनि सतत ही।
चक्षु विषय न हो वहाँ प्रतिलेखना दुर्लभ कही ॥२०॥

बीज पुष्पादिक घने जिस कोष्ठ में बिखरे पड़े।
तथा अधुना-लिप्त, गीला, देख पैर नही धरे ॥२१॥

भेड़, बालक, श्वान, बछडादिक खड़े जिस द्वार पर।
हो प्रविष्ट न साधु उसमें हटाकर या लाँघकर ॥२२॥

न देखे आसक्त बन, अति दूर तक देखे नही।
लौट आए मौन होकर स्फार-नयन न हो कही ॥२३॥

---

१. घर का वह द्वार, जो किसी कारणवश फिर से चिना हुआ है।

गौचरी-गत साधु मर्यादित धारा लाँघे नही।
जानकर कुल-भूमि फिर मित-भूमि पर जाए सही ॥२४॥

विचक्षण भू-भाग की करता वहाँ प्रतिलेखना।
स्नान, शौचालय तरफ मुनि को नही है देखना ॥२५॥

उदक-मिट्टी-स्थान[1] बीज व हरित युत भू छोडकर।
सर्व-इन्द्रिय समाहित फिर वहाँ ठहरे सन्तवर ॥२६॥

वहाँ स्थित मुनि को अगर दे पान-भोजन भक्तजन।
अकल्पिक इच्छे नही कल्पिक ग्रहे नित सन्तजन ॥२७॥

कदाचित् नीचे गिराती अशन यदि हो दे रही।
कहे देती हुई से—मैं इसे ले सकता नही ॥२८॥

बीज प्राणी हरित को वह कुचलती यदि दे अशन।
असयम करती उसे लख तजे उसको सन्तजन ॥२९॥

वस्तु जो कि सचित्त-संहृत-क्षिप्त-स्पर्शित[2] जानिए।
उस तरह पानी हिलाकर अगर श्रमणो के लिए ॥३०॥

सलिल-अवगाहन, चलित कर पान-भोजन दे रही।
कहे देती हुई से—मैं इसे ले सकता नही ॥३१॥

पूर्व धोए हाथ चम्मच बर्तनो से दे रही।
कहे देती हुई से—मैं इसे ले सकता नही ॥३२॥

†इसी भाँति जल-भीगे स्निग्ध स-रज मृत् खार तथा हरिताल।
हिंगुल व मैनशिल या अजन लवण व गैरिक से उस काल ॥३३॥

पीत धवल मिट्टी सौराष्ट्रिक,[3] पिष्ट, पत्र-रस या तुष से।
असंसृष्ट संसृष्ट करादिक को पहिचानो इस विधि से ॥३४॥

*बिन भरे कर-पात्र-दर्वी से दिया जाए जहाँ।
न इच्छे, सभावना पश्चात्-दोषो की वहाँ ॥३५॥

लिप्त बर्तन-हाथ-दर्वी से दिया जाता कही।
ग्रहण करता सर्वथा निर्दोष हो तो मुनि वही ॥३६॥

---

१ कच्चे पानी का स्थान और सचित्त मिट्टी वाला स्थान।

२ सचित्त-संहृत, सचित्त-क्षिप्त, सचित्त-स्पर्शित।

३. गोपी चन्दन—एक प्रकार की मिट्टी।

उभय सह-भोजी जनो मे दे निमत्रण एक नर।
दीयमान न ले अपर की भावना देखे प्रखर ॥३७॥

उभय सह-भोजी मनुज देते निमन्त्रण हो अगर।
दीयमान करे ग्रहण निर्दोष हो तो सतवर ॥३८॥

विविध भोजन सगर्भा-हित बना, वह यदि खा रही।
छोड दे उस अशन को, पर भुक्त-शेष ग्रहे सही ॥३९॥

निकट-प्रसवा गर्भिणी यदि उत्थिता बैठे पुन।
श्रमण-हित बैठी हुई यदि खडी होती है पुन. ॥४०॥

सयतो को पान-भोजन वह अकल्पिक है सही।
कहे देती हुई से—मै इसे ले सकता नही ॥४१॥

वाल अथवा वालिका को स्तन्य पान करा रही।
छोड कर रोते उन्हे यदि अशन-पानी दे रही ॥४२॥

सयतो को पान-भोजन वह अकल्पिक है सही।
कहे देती हुई से—मैं इसे ले सकता नही ॥४३॥

जहाँ कल्पाकल्प-शका पान-भोजन मे सही।
कहे देती हुई से—मै इसे ले सकता नही ॥४४॥

उदक-घट, चक्की व पीढे प्रस्तरादिक से पिहित।
तथा लेप व श्लेष आदिक से मँढा हो कुत्रचित् ॥४५॥

श्रमण-हित यदि खोलकर दे, या दिलाये जो कही।
कहे देती हुई से—मैं इसे ले सकता नही ॥४६॥

अशन-पानक और नाना खाद्य-स्वाद्य कही अगर।
दान-हित यह है बना, यो जानकर या श्रवणकर ॥४७॥

संयतो को पान-भोजन वह अकल्पिक है सही।
कहे देती हुई से—मै इसे ले सकता नही ॥४८॥

अशन-पानक और नाना खाद्य-स्वाद्य कही अगर।
पुण्य-हित वह है बना, यो जानकर या श्रवण कर ॥४९॥

सयतो को पान-भोजन वह अकल्पिक है सही।
कहे देती हुई से—मैं इसे ले सकता नही ॥५०॥

अशन-पानक और नाना खाद्य-स्वाद्य कही अगर।
वनीपक-हित है बना, यो जानकर या श्रवणकर ॥५१॥

संयतो को पान-भोजन वह अकल्पिक है सही।
कहे देती हुई से—मैं इसे ले सकता नही ॥५२॥

अशन-पानक और नाना खाद्य-स्वाद्य कही अगर।
श्रमण-हित वह है बना, यो जानकर या श्रवणकर ॥५३॥

सयतो को पान-भोजन वह अकल्पिक है सही।
कहे देती हुई से—मैं इसे ले सकता नही ॥५४॥

पूतिकर्म[1] व क्रीतकृत, उद्दिष्ट, अभिहृत अशन को।
मिश्र, अध्यवतर[2] तथा छोडे अशन प्रामित्य[3] को ॥५५॥

किसलिए किसने किया उत्पत्ति कारण पूछकर।
शुद्ध नि·शकित श्रवण कर ले उसे सयत-प्रवर ॥५६॥

अशन-पानक तथा नाना खाद्य-स्वाद्य कही यदा।
पुष्प, बीज व हरित से वह मिश्र बन जाए कदा ॥५७॥

सयतो को पान-भोजन वह अकल्पिक है सही।
कहे देती हुई से—मैं इसे ले सकता नही ॥५८॥

अशन-पानक और नाना खाद्य-स्वाद्य कही यदा।
पनक या उत्तिग पानी पर रखा हो एकदा ॥५९॥

सयतो को पान-भोजन वह अकल्पिक है सही।
कहे देती हुई से—मैं इसे ले सकता नही ॥६०॥

अशन-पानक और नाना खाद्य-स्वाद्य कही यदा।
अग्नि पर रक्खा व अग्नि-स्पर्श कर जो दे कदा ॥६१॥

सयतो को पान-भोजन वह अकल्पिक है सही।
कहे देती हुई से—मैं इसे ले सकता नही ॥६२॥

चूल्हे मे लकडी सरकाकर या निकालकर भोजन दे।
ज्वलित-प्रज्वलित करे अग्नि को अथवा निर्वापित कर दे।

---

१ निर्दोष आहार मे आधाकर्मी आहार का सयोग होना।
२ अपने लिए बनाये हुए आहार मे साधु के लिए कुछ अधिक डाल देना।
३ किसी से उधार लेकर साधु को देना।

अग्नि-स्थित मे से सीधा या टेढा भाजन को कर दे ।
नीर उफनते पर छिडके अथवा भाजन उतारकर दे ॥६३॥

*संयतों को पान-भोजन वह अकल्पिक सर्वथा ।
कहे देती हुई से—ऐसा न मुझको कल्पता ॥६४॥

काष्ठ-शिल या ईंट का टुकड़ा रखा हो एकदा[1] ।
लिए गमनागमन के वह डगमगाता हो कदा ॥६५॥

भिक्षु उस गंभीर पोले पन्थ पर जाए नहीं ।
सर्व-इन्द्रिय समाहित के असंयम देखा वहीं ॥६६॥

फलक सीढी पीठ को करके खड़ा, गृहिणी कदा ।
मच स्तंभ मकान चढ श्रमणार्थ भिक्षा दे यदा ॥६७॥

यदि पड़े चढती हुई तो हाथ-पग टूटे कभी ।
भूमिकाय व तदाश्रित त्रस जीव हिंसा हो तभी ॥६८॥

जान ऐसे महादोषों को महर्षि सुसयमी ।
ले नही मालाऽपहृत-भिक्षा कभी ऐसी दमी ॥६९॥

कन्द, मूल, अपक्व-अदरख छिन्न शाक व फल सभी ।
और घीयादिक अपक्व न ले श्रमण इनको कभी ॥७०॥

और सत्तू, चूर्ण वेरो का व तिलपपडी धरी ।
पूर[2] फाणित[3] आदि चीजे हो विपणि में यदि पड़ी ॥७१॥

किन्तु न विकी हो रजो से बनी लिप्त वहाँ सही ।
कहे देती हुई से—मैं इसे ले सकता नही ॥७२॥

बहुत-बीजक और बहु-कटकी अनिमिष फल तथा ।
इक्षुखड व बेल तेन्दू, फलो आस्थिक सर्वथा ॥७३॥

अल्प खाने योग्य, बहु जो फेंक देने योग्य हो ।
कहे देती हुई से—इसको न ले सकता अहो ॥७४॥

सलिल उच्चावच व आटे का व गुड़-धोवन प्रवर ।
चावलोदक आदि अघुनोत्पन्न छोड़े साधुवर ॥७५॥

बुद्धि से या देखकर चिरधौत यदि वह ज्ञात हो ।
श्रवणकर या पूछकर शंका-रहित विज्ञात हो ॥७६॥

---

१ वर्षा के समय । २ मालपुआ । ३ गीला गुड़ ।

जान परिणत अचेतन संयत ग्रहे उसको अरे।
अगर शका हो तदा चखकर उसे निर्णय करे ॥७७॥

कहे चखने को मुझे दो हाथ मे थोडा यही।
बहुत खट्टा सड़ा जल मम प्यास हर सकता नही ॥७८॥

सडा खट्टा जल बुझाने प्यास जो असमर्थ हो।
कहे देती हुई से—यह कल्पता न मुझे अहो ॥७९॥

अनिच्छा व असावधानी से ग्रहण हो उक्त जल।
स्वय न पीए अन्य को भी दे नही वैसा सलिल ॥८०॥

विजन मे जा देख भूमि अचित्त को फिर यत्नत.।
उसे परठे, परठकर प्रतिक्रमण करता शीघ्रतः ॥८१॥

गोचरी-गत मुनि कभी चाहे अशन करना अगर।
भित्ति-मूल अचित्त कोष्ठक को वहाँ फिर देखकर ॥८२॥

सुआच्छादित सुसंवृत स्थल की अनुज्ञा ले कृती।
पूंज हस्तक[1] से वहाँ पर करे भोजन संयती ॥८३॥

अशन करते वीज कटक काष्ठ तृण कंकर कदा।
तथाविध जो अन्य चीजे अशन मे आए तदा ॥८४॥

नही फेंके हाथ से थूके न मुख से सयती।
ग्रहण करके हाथ मे एकान्त मे जाए व्रती ॥८५॥

विजन मे जा वहाँ भूमि अचित्त को प्रतिलेख कर।
यत्न से परठे उसे, प्रतिक्रमण करता परठ कर ॥८६॥

स्थान पर ही अशन करना चाहता भिक्षुक अगर।
तो अशन लाकर वहाँ के स्थान को प्रतिलेख कर ॥८७॥

विनय-युक्त प्रवेशकर गुरु पास मे आए मुनि।
पढे ईर्यापथिक, फिर प्रतिक्रमण शीघ्र करे गुणी ॥८८॥

अशन-पानी ग्रहण करते और गमनागमन मे।
यथाक्रम अतिचार सब चिन्तन करे मुनि स्वमन मे ॥८९॥

स्थिर-मना ऋतु-प्राज्ञ मुनि उद्वेग-वर्जित चित्त से?
ग्रहण जो जैसे किया आलोचता गुरु निकट से ॥९०॥

---

१ मुख-वस्त्रिका या पूजनी या पात्र-प्रमार्जन के काम आनेवाला वस्त्र-खण्ड।

पूर्व-पश्चात्-कृत्य का न हुआ समालोचन सही ।
तो दुबारा प्रतिकमे, व्युत्सृष्ट तन, सोचे यही ॥९१॥

वृत्ति जिन ने असावद्य अहो ! कही मुनि के लिए ।
मोक्ष साधनभूत साधु-शरीर धारण के लिए ॥९२॥

ध्यान निज नवकार से पारे व जिन-सस्तव करे ।
कुछ करे स्वाध्याय फिर विश्राम कर निज श्रम हरे ॥९३॥

†लाभार्थी विश्राम समय मे करे सुचिन्तन यो हितकर ।
तार दिया यो मानूँ यदि मुनिगण जो कृपा करे मुझ पर ।

*प्रेम से तव साधुओ को निमन्त्रित क्रमश. करे ।
जो करे स्वीकार उनके साथ मे भोजन करे ॥९५॥

यदि न स्वीकृत हों तदा आलोक-भाजन मे सही ।
यत्न से खाए अकेला गिराए नीचे नही ॥९६॥

†तिक्त, कटुक व कसैला, खट्टा मधुर, लवणमय जो मिलता
हो अन्यार्थ-प्रयुक्त उसे मुनि मधु घृत सम लख आहरता ।

*अरस, नीरस, असूपित[1]-सूपित[2] व गीला शुष्क हो ।
मथु या कुल्माष प्रासुक स्वल्प बहु जो प्राप्त हो ॥९८॥

नही निन्दा करे उसकी मुधाजीवी मुनि कदा ।
दोष-वर्जित मुधालब्ध अशन करे सम-रत सदा ॥९९॥ युग्मम्

मुधादायी सुदुर्लभ, दुर्लभ मुधाजीवी अरे ।
मुधादायी मुधाजीवी उभय सद्गति सचरे ॥१००॥

---

१. व्यंजन रहित । २. व्यंजन-सहित ।

पाँचवाँ अध्ययन

पिण्डैषणा

(द्वितीय उद्देशक)

पात्र मे स्थित लेप को भी पोछकर खाए सभी।
सुगन्धित दुर्गन्धमय छोड़े नही सयत कभी ॥१॥

स्थान, मठ, स्वाध्याय भूपर करे भोजन बैठकर।
वह नही पर्याप्त हो, निर्वाह करने को अगर ॥२॥

तव सकारण भक्त पानी को मुमुक्षु गवेषता।
पूर्व-कथित विधान से उत्तर-कथित विधि से तथा ॥३॥

समय पर भिक्षार्थ जाए समय पर वापिस फिरे।
भिक्षु असमय को तजे सब कार्य समयोचित करे ॥४॥

समय का न खयाल कर बिन-समय जाते हो अगर।
हो स्वय तब क्लान्त, करते हो नगर-निन्दा प्रखर ॥५॥

समय पर जाए करे पुरुषार्थ भी अपना प्रखर।
शोक-रत न अलाभ मे हो, मान सु-तप सहे प्रवर ॥६॥

बडे या छोटे समागत जीव भोजन हित जहाँ।
सामने जाए न उनके, चले यतना से वहाँ।७॥

गोचरी-गत कही पर बैठे नही संयत-प्रवर।
कथा-वार्ता मे नही अनुरक्त हो, फिर ठहरकर ॥८॥

गोचरी-गत भिक्षु आगल फलक द्वार कपाट का।
ले सहारा खडा न रहे भले हो संयत थका ॥९॥

श्रमण ब्राह्मण कृपण अथवा वनीपक गृहि-द्वार पर।
अशन-पानी के लिए यदि खडे हो तो सतवर ॥१०॥

लांघ कर उनको न जाए दृष्टि-गत ठहरे नही।
विजन मे ठहरे कही सयत सतत विधियुक्त ही ॥११॥

वनीपक दाता तथा फिर उभय को अप्रीति हो।
और प्रवचन-हीलना की स्याद् वहाँ पर भीति हो ॥१२॥

निपेधित या दत्त वे जब चले जाएँ लौटकर।
अशन-पानी के लिए जाए वहाँ संयत-प्रवर ॥१३॥

पद्म उत्पल कुमुद अथवा मालती के सुमन को।
तथा अन्य सचित्त सुम को छेदकर दे श्रमण को ॥१४॥

संयतो को पान-भोजन वह अकल्पिक सर्वथा।
कहे देती हुई से—ऐसा न मुझको कल्पता ॥१५॥

पद्म उत्पल कुमुद अथवा मालती के सुमन को।
तथा अन्य सचित्त सुम को कुचलकर दे श्रमण को ॥१६॥

संयतो को पान-भोजन वह अकल्पिक सर्वथा।
कहे देती हुई से—ऐसा न मुझको कल्पता ॥१७॥

कमल-कंद पलाश-कद व कुमुद उत्पल-नालिका।
पद्म-नाल व इक्षुखण्ड सचित्त सर्षप-नालिका ॥१८॥

वृक्ष तृण या अन्य हरितो के तरुण पत्ते कहे।
कोपलें कच्ची सभी तज सुव्रती सयम वहे ॥१९॥

तरुण मूगादिक फली कच्ची व भूनी अर्ध हो।
कहे देती हुई से—यो कल्पता न मुझे अहो ॥२०॥

तथा कोल[1] अनुष्ण वेणुक[2] नालिका[3] काश्यप कही।
तजे तिल-पपड़ी अपक्व कदम्ब फल को ले नही ॥२१॥

शालि-पिष्ट व अर्ध-तप्त सचित्त जल उस भांति ही।
पोदकी[4], तिल-पिष्ट, सर्षप-खल सचित्त न ले कही ॥२२॥

विजौरा व कपित्थ फल मूले व उसके खण्ड हो।
शस्त्र-परिणति बिना कच्चे न इच्छे मन से अहो ॥२३॥

बहेड़ा व प्रियाल फल, फल चूर्ण बीजो का तथा।
जानकर कच्चे उन्हे मुनि छोड देता सर्वथा ॥२४॥

सामुदायिक बडे-छोटे कुलो मे भिक्षा करे।
लाँघ छोटे कुल नही उच्छृत कुलो मे संचरे ॥२५॥

दीनता तज वृत्ति खोजे नही खेद करे कृती।
गृद्ध भोजन मे नही, मात्रज्ञ एषण-रत मति ॥२६॥

---

१ बेर, जो उबला हुआ न हो। २ वश-करीर। ३ काश्यप-नालिका। ४ पाइंसाग।

गृहि-सदन में प्रचुर खाद्य व स्वाद्य नाना विध-जहाँ।
दे न दे इच्छा गृही की, कुपित हो न कृती वहाँ ॥२७॥

शयन, आसन, पान-भोजन, वस्त्र सम्मुख हो धरे।
पर न देता हो गृही तो मुनि न कोप कभी करे ॥२८॥

स्त्री, पुरुप, शिशु, वृद्ध की करता हुआ स्तवना यति।
न याचे, अप्राप्ति पर कटु वचन न कहे सुव्रती ॥२९॥

अवदित कोपे नही, वदित न दृप्त वने कदा।
वृत्ति यो अन्वेषता, रहती वहाँ मुनिता सदा ॥३०॥

प्राप्त भोजन को अकेला लोभवश हो गोपता।
देखने पर गुरु कदाचित् ले न ले यो सोचता ॥३१॥

लुब्ध उदरंभरी करता बहुत पाप यहाँ सही।
हो सदा दुस्तोष्य वह फिर मोक्ष मे जाता नही ॥३२॥

अकेला भिक्षार्थ-गत मुनि विविध भोजन प्राप्त कर।
सरस खाकर बीच मे, ले विरस आता स्थान पर ॥३३॥

ये श्रमण समझे मुझे मुनि तुष्ट, मोक्षार्थी यही।
रूक्ष-वृत्तिक, भोगता संतोष से नित प्राप्त ही ॥३४॥

सुयश, पूजा, मान या सम्मान-कामी जो बना।
सतत मायाशल्य करता, पाप मे रहता सना ॥३५॥

भिक्षु निज चारित्र-रक्षक, आत्म-साक्षी से सही।
सुरा, मेरक आदि मादक रस कभी पीए नही ॥३६॥

न कोई जानता मुझको, विजन मे पीता कही।
चोर मुनि के कपट दोषो को सुनो मुझसे यही ॥३७॥

बढे माया, मृषा, अयश व अनिर्वाण व मत्तता।
उसी भिक्षुक की अहर्निश बढे सतत असाधुता ॥३८॥

चोर ज्यो व्याकुल रहे नित स्वकर्मों से दुर्मति।
मरण तक सवर नही आराध पाता वह यति ॥३९॥

वह नही आचार्य को मुनिवृन्द को आराधता।
गृही निन्दा करे उन दुर्गुणो का पाकर पता ॥४०॥

धारता यो अवगुणो को सद्गुणो को त्यागता।
नही संवर-धर्म वह मरणान्त तक आराधता ॥४१॥

स्निग्ध-रस छोड़े तपस्वी सतत तप को आदरे।
विरत मद्य प्रमाद से मद भी न मेधावी करे ॥४२॥

देख तू कल्याण उसका बहुत मुनि-पूजित सही।
विपुल अर्थ-सुयुक्त का कीर्तन करूँगा सुन वही ॥४३॥

धारता यो सद्‌गुणो को दुर्गणो को त्यागता।
वही संवर-धर्म मुनि मरणान्तक आराधता ॥४४॥

साधता आचार्य को मुनि जनो को आराधता।
गृही पूजा करे उन सद्‌गुणो का पाकर पता ॥४५॥

तप वचन (नियम) आचार भाव व रूप का जो चोर है।
देव किल्विष कर्म करता, वही उसको ठोर है ॥४६॥

प्राप्त कर देवत्व भी वह हुआ किल्विषि सुर वहाँ।
जानता फिर भी न किस दुष्कृत्य का फल पा रहा ॥४७॥

वहाँ से च्युत एड मूक बने व तिर्यक् नरक को।
प्राप्त करता वहाँ दुर्लभ बोधि हैं उस मनुज को ॥४८॥

देखकर इस दोष को यो ज्ञात-नन्दन ने कहा।
तजे मुनि अणु मात्र माया-मृषा, मेधावी महा ॥४९॥

बुद्ध संयतो से भिक्षैषण-शोधि सीख उसमे मुनिवर।
प्रणिहित-इन्द्रिय, विचरे उत्कट संयम-गुण सयुत होकर ॥५०॥

छठा अध्ययन

महाचार-कथा

*ज्ञान-दर्शन सहित संयम और तप मे रत सदा।
युक्त आगम से गणी उद्यान मे आए मुदा ॥१॥

नृप, अमात्य व विप्र क्षत्रिय नम्रता से पूछते।
आपके आचार का कैसा विषय है मुनिपते ! ॥२॥

दान्त, सुस्थित, सर्वभूत-सुखेच्छु, तब उनसे गणी।
विचक्षण, शिक्षा-निपुण, कहने लगे शासन-मणी ॥३॥

सुनो मुझसे धर्म-अर्थाभिलाषी निर्ग्रन्थ का।
भीम, दुर्धर, पूर्ण जो आचार-गोचर सन्त का ॥४॥

परम दुश्चर कथित है आचार जो निर्ग्रन्थ का।
था न होगा, है न वैसा कही कोई पन्थ का ॥५॥

वृद्ध, बालक, रोगियो को अखण्डित ये गुण सभी।
पालने हैं एक से वे यथातथ्य सुनो अभी ॥६॥

स्थान अष्टादश, इन्ही मे से विराधे एक भी।
मूढ वह निर्ग्रन्थता से भ्रष्ट हो जाता तभी ॥७॥

(छहो व्रत, षट्काय और अकल्प्य गृहि-भाजन प्रणी।
तजे पर्यंक व निषद्या, स्नान, शोभा सद्गुणी ॥)

प्रथम उनमे स्थान यह श्री वीर-देशित स्पष्ट है।
अहिंसा, सब भूत संयममय निपुण सदृष्ट है ॥८॥

त्रस व स्थावर जीव जितने जगत् मे उनको सही।
जान या अनजान मे मारे-मराए भी नही ॥९॥

जीव जीवन-इच्छु सब, चाहे न कोई मरण को।
प्राण-वध को घोर लख, मुनि तजे पापाचरण को ॥१०॥

स्वार्थ या अपरार्थ भय या क्रोधवश होकर कभी।
झूठ बोले न बुलवाए अपर-पीड़क सत्य भी ॥११॥

लोक मे सब साधुओ ने झूठ को गर्हित कहा।
प्राणियो को हो अप्रत्यय अतः झूठ तजे यहाँ ॥१२॥

सचेतन अथवा अचेतन स्वल्प अथवा बहुत है।
अयाचित जो दन्त-शोधन मात्र अन्याधिकृत है ॥१३॥

उसे ग्रहण करे न खुद पर से न करवाए सही।
ग्रहण करते हुए को सयत भला समझे नही ॥१४॥ युग्म

घृणित-घोर-प्रमाद-घर अब्रह्मचर्य कहा अरे।
लोक मे भेदाऽऽयतन-वर्जक मुमुक्षु न आचरे ॥१५॥

अधर्मो का मूल है यह महादोषाऽऽगार है।
अत. छोडे मिथुन का संसर्ग जो अनगार है ॥१६॥

विड़ व सागर-लवण, गुड, घृत तैल आदिक का सही।
ज्ञात-नन्दनवचन मे रत, चाहते संग्रह नही ॥१७॥

लोभ का सस्पर्श माना है सभी ने यह सही।
स्वल्प भी यदि सग्रहेच्छक तो न मुनि वह, है गृही ॥१८॥

जो कि वस्त्र, अमत्र, कम्बल, पाद-प्रोछन वस्तुएँ।
धारते उपभोगते चारित्र-लज्जा के लिए ॥१९॥

उसे त्रायी ज्ञात-सुत ने परिग्रह, न कभी कहा।
कहा मूर्च्छा है परिग्रह, यों महा ऋषि ने अहा ॥२०॥

बुद्ध[1] भी सर्वत्र रक्षा-हित उपधि रखते अरे।
और क्या ? निज देह पर भी वे ममत्व नही करे ॥२१॥

नित्य तप मुनि के लिए सब ही प्रबुद्धो ने कहा।
वृत्ति सयम-योग्य है जो एक भक्त अशन अहा ॥२२॥

सूक्ष्म प्राणी त्रस व स्थावर दीखते निशि मे नही।
श्रमण विधि-युत तदा कैसे वहाँ चल सकता सही ॥२३॥

सबीजक व जलार्द्र भोजन प्राणियों से पथ भरे।
बचाए दिन मे, तदा कैसे निशा मे संचरे ॥२४॥

देख करके दोष ऐसे ज्ञात-नन्दन ने कहा।
रात्रि-भोजन नही करते सर्वथा मुनिवर महा ॥२५॥

---

१ तीर्थंकर, प्रत्येकबुद्ध जिनकल्पिक मुनि।

काय-मन-वच से न पृथ्वीकाय की हिंसा करे।
त्रिविध करण व योगत्रिक-सयत समाहित संचरे ॥२६॥

भूमि-वध करता हुआ, करता तदाऽऽश्रित-वध सही।
क्योकि दृश्य-अदृश्य त्रस-स्थावर विविध रहते वही ॥२७॥

कुगति-वर्धक दोष इसको जानकर मुनिवर अत।
उम्र-भर आरम्भ पृथ्वीकाय का छोडे स्वत: ॥२८॥

काय-मन-वच से नही अप्काय की हिंसा करे।
त्रिविध करण व योगत्रिक-सयत, समाहित सचरे ॥२६॥

सलिल-वध करता हुआ, करता तदाश्रित वध सही।
क्योकि दृश्य-अदृश्य त्रस-स्थावर विविध रहते वही ॥३०॥

कुगति-वर्धक दोष इसको जानकर मुनिवर अत।
उम्र-भर आरम्भ मुनि अप्काय का छोडे स्वत ॥३१॥

जात-तेज. अग्नि सुलगाना श्रमण इच्छे नही।
दुराश्रय सब ओर से है तीक्ष्ण शस्त्रो मे यही ॥३२॥

पूर्व-पश्चिम ऊर्ध्व-विदिशा-अध दक्षिण मे रहे।
और उत्तर दिशा मे स्थित प्राणियो को यह दहे ॥३३॥

भूत-घातक अग्नि है, इसमे नही सशय अरे।
ताप-उद्योतार्थ वध उसका न मुनि किंचित् करे ॥३४॥

कुगति-वर्धक दोष इसको जानकर मुनिवर अत।
उम्र-भर आरम्भ तेजस्काय का छोड़े स्वत ॥३५॥

अनिल के आरम्भ को भी बुद्ध तादृश मानते।
अत त्रायी वर्जते बहु-पापकारी जानते ॥३६॥

तालवृन्त व पत्र, शाखा, विधूनन से भी नही।
हवा करना-कराना मुनि चाहते कब ही नही ॥३७॥

वस्त्र, पात्र व पाद-प्रोछन, कम्बलादि महामना।
यत्न से धारे कि जिससे हो न अनिल-उदीरणा ॥३८॥

कुगति-वर्धक दोप इसको जानकर मुनिवर अत.।
उम्र-भर तक अनिल के आरम्भ को छोडे स्वत ॥३९॥

काय-मन-वच से वनस्पति की नही हिंसा करे।
त्रिविध करण व योगत्रिक-सयत समाहित सचरे ॥४०॥

हरित-वध करता हुआ, करता तदाऽऽश्रित वध सही।
क्योकि दृश्य-अदृश्य त्रस-स्थावर विविध रहते वहीं ॥४१॥

कुगति-वर्धक दोष इसको जानकर मुनिवर अतः।
उम्र-भर तक वनस्पति-आरम्भ को छोड़े स्वत. ॥४२॥

काय मन-वच से नही त्रसकाय की हिंसा करे।
त्रिविध करण व योगत्रिक-सयत-समाहित संचरे ॥४३॥

त्रस हनन करता हुआ, करता तदाऽऽश्रित वध सही।
क्योकि दृश्य-अदृश्य त्रस-स्थावर विविध रहते वही ॥४४॥

कुगति-वर्धक दोष इसको जानकर मुनिवर अतः।
तजे सब त्रसकाय का आरम्भ जीवन-भर स्वत. ॥४५॥

अशन आदि पदार्थ चारो जो अकल्प्य यहाँ कहे।
उन्हे तजता हुआ मुनि चारित्र को सम्यग् वहे ॥४६॥

पिण्ड शय्या वस्त्र और अमत्र सयत सर्वदा।
अकल्पिक इच्छे नही कल्पिक ग्रहण करता मुदा ॥४७॥

क्रीत औद्देशिक तथा नित्याग्र आहृत ले यहाँ।
प्राणि-वध अनुमोदते वे यो महाऋषि ने कहा ॥४८॥

क्रीतकृत उद्दिष्ट अभिहृत अशन-पानी को अत।
धर्मजीवी, स्थितात्मा, निर्ग्रन्थ तजते है स्वत ॥४९॥ (युग्म)

कांस्य पात्र व कास्य में या कुड मोदो मे कृती।
अन्न-जल भोगे अगर तो चरित-भ्रष्ट बने व्रती ॥५०॥

शीतजल आरम्भ फिर धोवन बिखरता है कही।
प्राणि-वध होता अत. देखता असयम है वही ॥५१॥

पूर्व-पश्चात् कर्म हो तो नही कल्प्य वहाँ कहा।
इसलिए गृहि-पात्र मे खाए नही मुनिवर महा ॥५२॥

मंच आसदो, पलंग, सिंहासनो पर जानिए।
बैठना, सोना विवर्जित, आर्यवर मुनि के लिए ॥५३॥

विना देखे पीढ़ आसदी निषद्या मच पर।
न बैठे जो बुद्ध आज्ञा-अधिष्ठित हैं सतवर ॥५४॥

जीव दुष्प्रतिलेख्य हैं गम्भीर छिद्रो मे वहाँ।
इसलिए पल्यक आसदी विवर्जित हैं यहाँ ॥५५॥

गोचरी-गत जो श्रमण अन्तर-घरो मे बैठता।
उसे लगते दोष ये मिथ्यात्व भी है पनपता ॥५६॥

नाश होता ब्रह्म का बिन समय जीवो का हनन।
वनीपक-प्रतिघात होता, हो प्रकुपित गृहस्थ जन ॥५७॥

हो अरक्षित ब्रह्म, स्त्री से भी सशंक बने अपर।
स्थान जो कि कुशील वर्धक दूर से छोडे प्रवर ॥५८॥

तीन मे से अन्यतर को बैठना कल्पे वहाँ।
जरा से अभिभूत रोगी तपस्वी जो है यहाँ ॥५९॥

रुग्ण या नीरोग मुनि यदि स्नान करना चाहता।
क्रान्त[1] हो आचार, सयम त्यक्त हो उसका तथा ॥६०॥

सूक्ष्म-प्राणी, फटी पोली भूमि मे रहते भरे।
विकट-जल[2] से स्नान करता भी उन्हे प्लावित करे ॥६१॥

अत. शीत व उष्ण जल से नहाते न मुनि-प्रवर।
घोर इस अस्नान व्रत को पालते है उम्र-भर ॥६२॥

गंध-चूर्ण व कल्क, लोध्र व पद्म-केशर आदि हो।
गात्र-मर्दन के लिए सयत प्रयोग करे नही ॥६३॥

केश-नख जिसके प्रवर्धित और मुण्डित नग्न हो।
शान्त-मैथुन को प्रयोजन क्या विभूषा से कहो ॥६४॥

विभूषावर्ती व्रती वह कर्म चिकने बाँधता।
घोर दुस्तर भवोदधि मे पड़े तजकर साधुता ॥६५॥

विभूषा-रत चित्त को भी बुद्ध तादृश मानते।
दयामय (त्रायिजन) सेते नही अति पापकारी जानते ॥६६॥

अमोहदर्शी, ऋजुगुण-सयम-तप-रत, निज तन कृश करते।
पूर्व-पाप को हरते और न नए पाप वे है करते ॥६७॥

नित उपशान्त यशस्वी अमम अकिंचन आत्मिक-विद्यावान।
त्रायी, विमल-शरद-शशिसम, पाता शिव अथवा देव-विमान ॥६८॥

---

१. उल्लघन (२) अचित्त पानी।

सातवाँ अध्ययन

वाक्यशुद्धि

*जान प्रज्ञावान सम्यग् चार भाषाएँ तथा।
उभय से सीखे विनय[1] पर दो न बोले सर्वथा ॥१॥

सत्य मे भी जो अवाच्य व मिश्र फिर मिथ्या कही।
बुद्धजन से अनाचीर्ण उसे सुधी बोले नही ॥२॥

असदिग्ध व अकर्कश निरवद्य जो भाषा कही।
सत्य या व्यवहार सुवि-जन सोचकर बोले सही ॥३॥

जो गिरा सदिग्ध भ्रामक या ध्रुवघ्ना हो अगर।
सत्य या व्यवहार भाषा भी न बोले धीरवर ॥४॥

तदाकार[2] अतथ्यभाषी भी अघो से स्पृष्ट हो।
बोलता जो झूठ उसके लिए क्या कहना अहो ॥५॥

वहाँ जायेंगे कहेंगे कार्य होगा अमुक ही
मैं करूँगा कार्य यह अथवा करेगा यह सही ॥६॥

भविष्यत् या भूत साप्रत-काल मे ऐसी अहो।
सशकित, निश्चयकरी भाषा तजे जो धीर हो ॥७॥

जो अनागत-भूत-प्रत्युत्पन्न[3]-भाव[4] यहाँ रहे।
यदि न जाने तो वहाँ फिर 'एव मेव'[5] नही कहे ॥८॥

जो अनागत-भूत-प्रत्युत्पन्न-अर्थ यहाँ रहे।
हो अगर शका वहाँ तो 'एव मेव' नही कहे ॥९॥

जो अनागत-भूत-प्रत्युत्पन्न-अर्थ यहाँ रहे।
हो अगर नि शंक तो फिर 'एव मेव' वहाँ कहे ॥१०॥

---

१. शुद्ध प्रयोग। २, वाह्य वेप अनुसार स्त्री वेपधारी को स्त्री या पुरुप वेपधारी को पुरुप कहने रूप। ३ वर्तमान काल। ४. पदार्थ। ५ -ऐसा ही है।

परुष[1]-भाषा और गुरु-भूतोपघात-करी अहो।
सत्य भी हो तो न बोले क्योकि पापाऽऽगमन हो ॥११॥

कहे काने को न काना, क्लीव को फिर क्लीव है।
कहे रोगी को न रोगी, चोर को भी चोर है ॥१२॥

उक्त या तत्सम वचन जिससे कि चोट लगे सही।
चरित[2]-दोष-अभिज्ञ, प्रज्ञावान त्यो बोले नही ॥१३॥

इस तरह हे होल ! गोलक[3] ! वृषल या फिर स्वान हे।
द्रमक[4] ! दुर्भग[5] ! आदि ऐसे शब्द प्राज्ञ नही कहे ॥१४॥

अरी दादी व परदादी ! माँ अरी ! मौसी ! उसे।
हे बुआ ! भानजी ! पुत्री ! या कि पोती नाम से ॥१५॥

हे हले ! भट्टे ! हली ! अन्ने व स्वामिनि ! गोमिनि !
अरी होले व गोले ! वृषले !, न यो बोले गुणी ॥१६॥

नाम या स्त्री-गोत्र से फिर उसे मुनि सम्बोधता।
यथोचित निर्देश कर आलापता संलापता ॥१७॥

पिता ! दादा व परदादा ! भानजा ! मातुल तथा।
पुत्र ! चाचा और पोता यो नही सबोधता ॥१८॥

अन्न ! हल हे भट्ट ! स्वामिन् होल गोमिन् गोल रे।
वृषल ! आदिक शब्द से नर को न सबोधित करे ॥१९॥

पुरुष-गोत्र व नाम आदिक से उसे सम्बोधता।
यथोचित निर्देश कर आलापता सलापता ॥२०॥

जहाँ तक पचेन्द्रियो मे स्त्री पुमान् न जानता।
वहाँ तक उनके विषय मे जाति कह आलापता ॥२१॥

त्यो मनुज, पशु और पक्षी सरीसृप[6] को देखकर।
स्थूल, तुन्दिल, वध्य, पाक्य न कहे उनको भिक्षुवर ॥२२॥

पुष्ट है परिवृद्ध है सजात, प्रीणित है सही।
महाकायिक है जरूरतवश कहे मुनिवर यही ॥२३॥

---

१ कठोर भाषा। २ आचार भाव के दोषों को जानने वाला। ३ जार पुत्र। ४ कगाल।
५. हतभागी। ६ साप आदिक पेट के बल पर चलने वाले।

गाय दुहने योग्य बछड़े दमन करने योग्य है।
भार-हल-रथ[1] योग्य हैं ये यो न बोले प्राज्ञ है ॥२४॥

युवक बैल गऊ दुधारू और ये छोटे-बड़े।
बैल धोरी हैं कहे यो मुनि जरूरत जो पड़े ॥२५॥

तथा मुनि उद्यान-पर्वत या वनो मे देखकर।
बड़े तरुओं को वहाँ बोले न ऐसे प्राज्ञवर ॥२६॥

महल, स्तम्भ व सदन, तोरण परिघ[2] अर्गल योग्य हैं।
और जलकुडी व नौका के लिए उपयोग्य हैं ॥२७॥

काष्ठ-पात्री, पीठ हल या मयिक कोल्हू के लिए।
वृक्ष ये उपयुक्त हैं सब नाभि अहरन के लिए ॥२८॥

शयन, आसन, यान अथवा उपाश्रय के योग्य हैं।
भूत-उपघातक गिरा बोले न ऐसी प्राज्ञ हैं ॥२९॥

तथा मुनि उद्यान-पर्वत या वनो में देखकर।
बड़े तरुओ को वहाँ ऐसे कहे मुनि प्राज्ञवर ॥३०॥

जातिमान, सुदीर्घ, वृत्त, लिए हुए विस्तार हैं।
कहे शाखा-प्रशाखा-युत दर्शनीय अपार हैं ॥३१॥

पक्व फल हैं पका खाने योग्य टालक[3] है तथा।
तोड़ने या फाँक करने योग्य न कहे सर्वथा ॥३२॥

भार सहने के लिए ये आम्र अति असमर्थ है।
भूतरूप[4] व वहुत निर्वर्तित[5] कहे संभूत[6] है ॥३३॥

पक्व या कि अपक्व औषधियाँ व फलियाँ युक्त है।
काटने भूनने योग्य न कहे या पृथु[7]-खाद्य है ॥३४॥

रूढ[8] वहु सम्भूत[9] स्थिर उच्छ्रृत[10] व प्रसृत[11] है तथा।
और गर्भित[12] धान्यकण से सहित है यो बोलता ॥३५॥

---

१. भार वहने योग्य, हल वहने योग्य तथा रथ वहने योग्य हैं। २ नगर-द्वार की आगल को परिघ और गृह-द्वार की आगल को अर्गला कहा जाता है। ३. गुठली-रहित। ४ कोमल। ५. प्राय निष्पन्न फलवाले हैं। ६ एक साथ उत्पन्न वहुत फलवाले। ७. चिड़वा बनाकर खाने योग्य। ८ अकुरित। ९ निष्पन्न प्राय.। १०. ऊपर उठाना। ११ भुट्टों से रहित। १२ भुट्टों से सहित।

तथा जमीन जान यो न कहे कि करने योग्य है।
वध्य है यह चौर सरिता घाट अधिक सुरम्य है ॥३६॥

कहे जमीनवार को जमीन धनार्थी स्तेन[1] को।
बहुत सम है घाट सरिता के कहे यो वचन को ॥३७॥

तथा नदियाँ पूर्ण ये तरणीय भुज-बल से सही।
नाव से तरणीय प्राणी[2] पेय यो बोले नही ॥३८॥

पूर्ण भृत व अगाध, अन्य-प्रवाह से जल बढ रहा।
हैं बहुत विस्तारवाली यो न बोले मुनि महा ॥३९॥

पापकारी कार्य जो अन्यार्थ कृत क्रियमाण है।
लख उन्हें सावद्य भाषा न बोले गुणवान हैं ॥४०॥

सुष्टु पक्व,[3] सुच्छिन्न,[4] कृत,[5] हृत,[6] मृत,[7] सुनिष्ठित,[8] लष्ट[9] हैं।
ये सभी सावद्य भाषाए तजे मुनि शिष्ट है ॥४१॥

[1]पक्व,[10] छिन्न[11] फिर लष्ट गाढ को क्रमश यो बोले सुविचार।
यत्न-पक्व यह यत्न-छिन्न यह यत्न-लष्ट है गाढ प्रहार ॥४२॥

*वस्तु सर्वोत्कृष्ट यह व पराघ्र्य, अतुल, अनन्यतर।
अविक्रेय, अवाच्य और अचिन्त्य न कहे मान्यवर ॥४३॥

सब कहूँगा, पूर्ण है यह, यो न बोले मुनि कही।
किन्तु पूर्वापर सभी कुछ सोचकर बोले सही ॥४४॥

सुष्टु क्रीत विक्रीत अथवा क्रेय यह अक्रेय है।
माल यह लो इसे वेचो वचन यह अश्रेय है ॥४५॥

अल्प-अर्घ्य-महार्घ्य के क्रय-विक्रयो मे कार्यवश।
बोलना यदि पड़े तो अनवद्य मुनि बोले सरस ॥४६॥

---

१ चोर। २ इसका पानी प्राणी तट पर बैठे पी सकते हैं। ३ अच्छा पकाया। ४ अच्छा छेदा। ५ अच्छा किया। ६ अच्छा हरण किया शाक की तिक्तता आदि। ७ अच्छा मरा है दाल या सत्तू मे घी आदि। ८ अच्छा रस निष्पन्न हुआ है। ९ बहुत ही इष्ट है चावल आदि। १० आरभ करके पकाता है। ११ प्रयत्न पूर्वक कटा हुआ है।

बैठ, आ, कर, सो, ठहर, जा, असंयत जन को तथा।
धीर प्रज्ञावान सयत यो न बोले सर्वथा ॥४७॥

हैं असाधक बहुत पर वे साधु हैं कहला रहे।
असाधक को साधु न कहे साधु को साधक कहे ॥४८॥

ज्ञान-दर्शन युक्त सयम-तपोरत सतत रहे।
इन गुणों से युक्त जो मुनि उसे ही सयत कहे ॥४९॥

देव-नर-पशु-पक्षियो मे रण परस्पर हो कही।
अमुक को जय हो अमुक की हार यो बोले नहीं ॥५०॥

वायु, वर्षा, शीत, उष्ण, सुकाल, क्षेम व सुख तथा।
कदा होंगे या न हो ऐसे न बोले सर्वथा ॥५१॥

†उसी भाँति नभ, मेघ, मनुज को देव देववत्त कहे नही।
वर्षोन्मुख, उन्नत, पयोद या वृष्ट-बलाहक कहे सही ॥५२॥

*अन्तरिक्ष कहे उसे गुह्यानुचरित कहे व्रती।
देखकर सपन्न नर को ऋद्धिमान कहे यती ॥५३॥

†जो पापानुमोदिनी, अवधारिणी व पर उपघात करे।
क्रोध, लोभ, भय और हास्यवश भी ऐसी न गिरा उच्चरे ॥५४॥

वचन-शुद्धि का कर विवेक जो दूषित-वाणी तज देता।
नित निर्दोष विचारित कहता वह सुजनो मे यश लेता ॥५५॥

भाषा के गुण-दोष जान नित दूषित-गिरा तजे मुनिवर।
षट् काया-प्रतिपाल, चरित-रत बोले मधुर और हितकर ॥५६॥

विचार भाषी, समाहितेन्द्रिय, विगतकषाय, तटस्थ तथा
पूर्वार्जित-मलहर, लोक-द्वय का वह आराधन करता ॥५७॥

आठवाँ अध्ययन

आचार-प्रणिधि

प्रणिधि पा, आचार की जो भिक्षु का कर्त्तव्य है।
कहूंगा क्रमशः तुम्हे अब सुनो तुम वह श्रव्य है ॥१॥

भूमि, जल, शिखि, सबीजक तृणतरु, पवन, त्रस प्राण है।
ये सभी हैं जीव ऐसा वीर का फरमान है ॥२॥

अहिंसक व्यवहार होना चाहिए उनके प्रति।
मन वचन तन से सदा संयत तभी होता यति ॥३॥

भीत, भू ढेले शिला को कुरेदे भेदे नही।
त्रिविध करण व योग से, सयत समाहित जन कही ॥४॥

शुद्ध[1] - पृथ्वी स-रज[2] आसन पर कभी बैठे नही।
ले अनुज्ञा, पूंज बैठे हो अचित्त जहाँ सही ॥५॥

शीत-जल, ओले व हिम बारिश-सलिल सेवे नही।
तप्त-प्रासुक-उष्ण पानी ही ग्रहे सयत सही ॥६॥

उदक-आर्द्र-शरीर को निज, नही मलता पोछता।
तथाभूत उसे समझकर नही मुनिवर स्पर्शता ॥७॥

अग्नि या अंगार, ज्वाला, ज्वलित काष्ठादिक सही।
करे उत्सेचन[3] व घट्टन[4] और निर्वापन[5] नही ॥८॥

तालवृन्त व पत्र-शाखा-व्यजन आदिक से मुनि।
हवा न करे स्वतन पर या बाह्य पुद्गल पर गुणी ॥९॥

वृक्ष, तृण, फल, मूल आदिक किसी को छेदे नही।
विविध बीज, सचित्त को मन से कभी इच्छे नही ॥१०॥

---

१ सचित्त भूमि। २ सचित्त रज सहित आसन। ३ प्रदीप्त। ४ स्पर्श। ५ बुझाना।

गहन-वन या बीज, हरित व उदक[1] या उत्तिग[2] पर।
पनक[3] आदिक पर नही ठहरे कभी भी भिक्षुवर ॥११॥

मन-वचन-तन से नही त्रस जीव की हिंसा करे।
देख जग-वैचित्र्य नित सब-भूत-उपरत सचरे ॥१२॥

दया-अधिकारी बना सयत कि जिनको जानकर।
आठ सूक्ष्मो को निरख शयनासनादि करे प्रवर ॥१३॥

सूक्ष्म आठों कौन से ? यो पूछता सयत यदा।
कहे मेधावी विचक्षण गुरु उसे ये हैं तदा ॥१४॥

स्नेह, पुष्प व प्राण फिर उत्तिग[4] चौथा है कहा।
पनक, बीज व हरित अष्टम सूक्ष्म अण्डा है रहा ॥१५॥

जानकर इनको स्वयं सब तरह से सयत तदा।
अप्रमत्त, समाहितेन्द्रिय करे यतना सर्वदा ॥१६॥

करे प्रतिलेखन सदा विधियुक्त कम्बल पात्र की।
सस्तरण, उच्चार-भू, शय्या व आसन मात्र की ॥१७॥

प्रस्रवण, उच्चार, श्लेष्मा, सिंघाण[5], स्वेदादिक कही।
देख प्रासुक भूमि को फिर यत्न से परठे वही ॥१८॥

अशन-पानी के लिए गृहि-सदन मे जाए यदा।
यत्न से ठहरे, कहे मित, रूप-मुग्ध न हो कदा ॥१९॥

बहुत सुनता कान से मुनि आँख से बहु देखता।
पर न सब श्रुत दृष्ट मुनि को है बताना कल्पता ॥२०॥

दृष्ट, श्रुत यदि घातकर हो तो नही बोले अरे।
किसी भी स्थिति मे नही गृहि-योग साधु समाचरे ॥२१॥

सरस नीरस अशन को अच्छा-बुरा बोले नही।
तथा पृष्टाऽऽपृष्ट[6] लाभाऽलाभ को खोले नही ॥२२॥

---

१ अनन्तकायिक वनस्पति। २. सर्प के आकारवाली वनस्पति। ३ फूलन या वनस्पति विशेष। ४ जीवों का आश्रय स्थान। ५ नाक की मैल। ६. पूछने पर या बिना पूछे।

अशन-गृद्ध न हो, मुखर भी उंछ[1] भोजन ले सही।
क्रीत अभिहृत व उद्दिष्ट सचित्त को भोगे नही ॥२३॥

करे अणु-भर भी न संचय मुधा-जीवी जो दमी।
असंबद्ध व जन पदाऽश्रित, रहे सतत सयमी ॥२४॥

सुसतुष्ट व रूक्ष-वृत्तिक, अल्पभुग् अल्पेच्छु है।
जिन वचन सुन किसी पर भी क्रुद्ध न बने भिक्षु है ॥२५॥

कर्ण-सुखकर शब्द सुनकर प्रेम भाव करे नही।
स्पर्श दारुण तथा कर्कश सहे काया से सही ॥२६॥

विषम-शय्या क्षुत्, तृषा, शीतोष्ण, अरित व भय कहे।
देह दु ख महा फलद है, अव्यथित बन सब सहे ॥२७॥

सूर्य छिपने पर पुन. जब तक न वह होता उदय।
अशन आदिक सभी मन से भी न इच्छे गुण-निलय ॥२८॥

अल्प-भाषी, मिताशन, अचपल न अविवादी शमी।
उदर[2]-दान्त बने न निन्दे स्वल्प मिलने पर यमी ॥२९॥

अन्य का अपमान न करे आत्म-श्लाघा भी नही।
जाति या श्रुत-लाभ-तप-मति पर न गर्व करे सही ॥३०॥

दोष-सेवन जान या अनजान मे करके अरे।
शीघ्र सकोचे स्वय को और न पुन आचरे ॥३१॥

असंसक्त व शुचि सरल-आशय जितेन्द्रिय मुनि कही।
दोष सेवन कर उसे गोपे, नकारे भी नही ॥३२॥

महात्मा-आचार्य के वच को अमोघ[3] सदा करे।
वचन से करके ग्रहण फिर कार्य सपादन करे ॥ ३॥

सिद्धि-पथ का ज्ञानकर जीवन अशाश्वत जानकर।
भोग से विनिवृत्त हो, स्वायुष्य परिमित मानकर ॥३४॥

---

१ ज्ञात-अज्ञात कुल से थोडा-थोडा लेने की वृत्ति। २ अलोलुप। ३ सफल।

(स्थाम[1], बल, श्रद्धा तथा आरोग्य अपना देखकर।
लगाए तप मे स्वय को क्षेत्र, सुसमय जानकर)

†जरा न पीडित करे जहाँ तक व्याधि न जब तक बढ़े सुजान।
क्षीण न इन्द्रियगण हो तब तक करे धर्म आचरण महान् ।।३५।।

*पापवर्धक क्रोध मान व लोभ माया है महा।
आत्म-हित इच्छुक तजे इन चार दोषो को यहाँ ।।३६।।

प्रीति-नाशक क्रोध है अभिमान यह विनयघ्न है।
मित्रता-नाशक कपट है लोभ सर्व-गुणघ्न है ।।३७।।

क्रोध को जीते शमन से मान मृदुता-पोष से।
सरलता से दम्भ जीते लोभ को संतोष से ।।३८।।

†क्रोध मानवश किए नही फिर कपट-लोभ बढ़ते रहते।
चारों कृष्ण[2] कषाय, पुनर्भव तरु की जड़ सिचन करते ।।३९।।

रात्निक-जन[3] का विनय करे, ध्रुव शील कभी छोड़े न यमी।
गुप्तेन्द्रिय हो कूर्म भाति तप संयम में हो पराक्रमी ।।४०।।

*न दे आदर नीद को अति अट्टहास्य करे नही।
तजे मैथुन की कथा स्वाध्याय-रत हो नित्य ही ।।४१।।

हो परायण श्रमणता मे योग सयोजित करे।
जो श्रमणता-रत रहे वह अनुत्तर सुख को वरे ।।४२।।

भक्ति बहुश्रुत की सुगतिदा इह परत्रहितावहा।
तथा पृच्छा करे जिससे अर्थ-निर्णय है कहा ।।४३।।

जितेन्द्रिय आलीन, निज पग-हाथ-तन संकोच कर।
पास[4] बैठे सुगुरु के होकर सुगुप्त श्रमण प्रवर ।।४४।।

सुगुरु के आगे व पीछे बराबर बैठे नही।
ऊरु से ऊरु को सटा उनके निकट बैठे नही ।।४५।।

---

१. शारीरिक बल। २ संक्लिष्ट। ३. बड़े साधु। ४ न अति दूर न अति निकट।

बिना पूछे न बोले या बोलते के बीच भी।
पृष्ठमास[1] तजे तथा माया-मृषा छोड़े सभी ॥४६॥

अपर नर झट कुपित हो, अप्रीति हो जिससे तथा।
अहितकर ऐसी गिरा बोले न मुख से सर्वथा ॥४७॥

आत्मवान मुनि असदिग्ध, मित, दृष्ट, व्यक्त, प्रतिपूर्ण, वचन।
परिचित, वाचालतारहित भयरहित गिरा बोले शुभ मन ॥४८॥

*दृष्टिवादाऽभिज्ञ मुनि, आचार-प्रज्ञप्तिधर भी।
वचन मे हो स्खलिता तो उपहास मुनि न करे कभी ॥४९॥

मन्त्र, स्वप्न, निमित्त या नक्षत्र, औषधि, योग को।
प्राण-वध के स्थान लख मुनि बताए न गृहस्थ को ॥५०॥

सदन जो उच्चार भू सपन्न स्त्री-पशु रहित हो।
ग्रहे शयनासन तथाविध अन्यहित जो विहित हो ॥५१॥

नारिजन से कथादिक एकात मे न करे कही।
गृही-सस्तव तजे मुनि-सस्तव सदैव करे सही ॥५२॥

सदा कुर्कट-पोत को मार्जार से भय है यथा।
नारि-तन से ब्रह्मचारी को वही भय है तथा ॥५३॥

चित्रिता व अलंकृता स्त्री को न देखे ध्यान धर।
दृष्टि को झट खीच ले जैसे कि रवि को देखकर ॥५४॥

हाथ पग फिर कान नाक-विहीन नारी हो कदा।
शतायुष्या-सग को भी तजे ब्रह्म व्रती सदा ॥५५॥

विभषा, ससर्ग स्त्री का सरस भोजन जान लो।
आत्म-शोधक के लिए ये ताल-पुट-विष मान लो ॥५६॥

चारु-लपित, कटाक्ष, अगोपाङ्ग या संस्थान है।
स्त्रियों के देखे न ये सब काम-वर्धक स्थान हैं ॥५७॥

---

१. चुगली।

प्रेम न करे इष्ट विषयों मे कभी भी संतवर।
परिणमन उन पुद्गलों का अशाश्वत पहचान कर ॥५८॥

यथावत् परिणमन उन सब पुद्गलों का जानकर।
लालसा से मुक्त शान्तात्मा यहाँ विचरे प्रवर ॥५९॥

जिस सुश्रद्धा से तजा घर ली अनुत्तर साधना।
करे गुरु-सम्मत गुणों की यथावत् आराधना ॥६०॥

नित तप-संयम-योगयुक्त स्वाध्याय रक्त जो स्थिरतम है।
बल[1] से घिरा सशस्त्र सुभट ज्यों वह निज-पर रक्षा-क्षम है ॥६१॥

सत्स्वाध्याय-ध्यान-तप-रत, निष्पाप भाव, त्रायी का नित।
पूर्वार्जित मल होता नष्ट, स्वर्ण-मल ज्यो शिखि से तापित ॥६२॥

जो यो दु:ख-सहिष्णु, जितेन्द्रिय, श्रुतरत, अमम, अकिंचन है।
वह निरभ्र विधु सम शोभित होता अपगत-दुष्कृत-घन है ॥६३॥

---

१ सेना।

नवाँ अध्ययन

विनय-समाधि

(पहला उद्देशक)

मान-क्रोध-माया-प्रमादवश सीखे गुरु से जो न विनय।
होता वही अभूति[1] हेतु ज्यो वेणु[2] वेण-फल से हो क्षय ॥१॥

मन्द, बाल अल्पश्रुत जान सुगुरु उपदेश वितथ दिल धर।
गुरु की अवगणना जो करते वे आशातन करते नर ॥२॥

कई प्रकृति से-मद वृद्ध हो, बालक श्रुतमति से गहरे।
पर उन आचारी गुणियो की निन्दा शिखिवत् भस्म करे ॥३॥

ज्यो अहि को लघु समझ छेडना बडा अहितकर होता है।
त्यो गुरु-निन्दक मन्द जाति-पथ[3] मे खाता फिर गोता है ॥४॥

आशीविष हो रुष्ट, मृत्यु से बढकर क्या कर सकता है?
पर हो सुगुरु रुष्ट तो बोधि तथा न मोक्ष वर सकता है ॥५॥

ज्यो प्रज्वलित वह्नि पर चलना, या आशीविष का कोपन।
जीवनार्थ विष-भक्षण त्यो ही समझो गुरु की आशातन ॥६॥

पावक दहन करे न कदाचित्, अहि भी कुपित नही खाए।
विष से मृत्यु न हो फिर भी गुरु-निन्दक मोक्ष नही पाए ॥७॥

ज्यो सिर से गिरि का भेदन या सुप्त सिंह का प्रतिबोधन।
शक्ति[4] अग्र पर चोट मारना, त्यो सद्गुरु की आशातन ॥८॥

सिर से हो गिरि-भेद कदाचित् प्रकुपित सिंह नही खाए।
शक्ति-अग्र न करे क्षत फिर भी गुरु-निन्दक मोक्ष न पाए ॥९॥

---

१. विनाश का कारण। २ बांस। ३ संसार। ४ भाले की नोक।

अप्रसन्न हो गुरु जिससे, फिर मिले न बोधि व मोक्ष उसे ।
इसीलिए निर्बाध सुखेच्छुक सुगुरु-कृपा-अभिमुख निवसे ।।१०।।

आहुति-मंत्र पदाभिषिक्त शिखि को ज्यो आहिताग्नि[1] नमता ।
त्यो अनन्तज्ञानी भी गुरु-सेवा मे नित्य रहे रमता ।।११।।

सीखे जिनसे धर्मपदादिक, सुविनय उनका सदा करे ।
नतमस्तक कर जोड वचन का या मन से सत्कार करे ।।१२।।

लज्जा, दया, शील, सयम, कल्याण-इच्छु के शुद्धि-स्थान ।
इनकी सीख मुझे देते नित अतः सुगुरु है पूज्य महान ।।१३।।

ज्यो निशान्त में दीप्त-सूर्य करता सारा भारत भासित ।
हरि[2] ज्यो सुरगण मे त्यो गुरु श्रुत शील बुद्धि से शोभान्वित ।।१४।।

शरद पूर्णिमा सेवित विधु नक्षत्र तारको से परिवृत ।
अभ्रमुक्त निर्मल नभ मे शोभित त्यो गुरु मुनिजन-सवृत ।।१५।।

शील समाधियोग श्रुत-बुद्धि-महाकर[3] महा-ऐषी[4] आचार्य ।
तुष्ट करे आराधे उनको धर्मी शिवकामी मुनि आर्य ।।१६।।

सुन सद्-भाषित मेधावी मुनि अप्रमत्त गुरु-सेव करे ।
गुण अनेक आराध अनुत्तर सिद्धि वधू को यहाँ वरे ।।१७।।

---

१. अग्निहोत्री ब्राह्मण । २. इन्द्र । ३. महान गुणों की खान । ४ महान के खोजी ।

नवाँ अध्ययन

विनय-समाधि

(दूसरा उद्देशक)

वृक्ष मूल से स्कन्ध, स्कन्ध से शाखा का होता उद्भव।
तभी प्रशाखा, पत्र, पुष्प, फल, रस क्रमश. मिलता नव-नव ॥१॥

*धर्म का त्यो मूल विनय व मोक्ष फल अन्तिम रहा।
श्लाघ्य, श्रुत, यश, सर्व जिससे प्राप्त करता मुनि महा ॥२॥

चंड, मृग, मानी, कुवादी और कपटी, शठ तथा।
अविनयी भव मे भटकता काष्ठ स्रोतोगत यथा ॥३॥

विनयहित सदुपाय-प्रेरित जो सुगरु से कोपता।
दिव्य श्री आती हुई को दण्ड से वह रोकता ॥४॥

ज्यो अविनयी औपवाह्य[1] हयादि ढोते भार हैं।
दुखित सेवा काल मे वे दीखते हर बार है ॥५॥

औपवाह्य विनीत हय गज का सुखी ससार है।
ऋद्धि प्राप्त, महा यशस्वी दीखते हर बार है ॥६॥

त्यो सदा अविनीत नर-नारी यहाँ जो लोक मे।
विकल-इन्द्रिय और दुर्बल दीखते हैं शोक मे ॥७॥

दड शस्त्रो से प्रताड़ित, तिरस्कृत कटु वचन से।
करुण परवश क्षुत्-तृषाऽऽकुल दीखते दुख मे फँसे ॥८॥

सुविनयी नर-नारियो का त्यो सुखी ससार है।
ऋद्धि-प्राप्त महायशस्वी दीखते हर बार है ॥९॥

इस तरह अविनीत जो सुर, यक्ष गुह्यक लोक मे।
दुखित सेवा काल मे वे दीखते हैं शोक मे ॥१०॥

---

1. राजाओं के सवारी करने योग्य हाथी-घोड़े।

सुविनयी सुर, असुर, गुह्यक का सुखी ससार है।
ऋद्धि-प्राप्त महायशस्वी दीखते हर बार है ॥११॥

उपाध्याय व सुगुरु-सेवा वचन मे जो रक्त हैं।
सदा शिक्षा बढे उनकी यथा तरु जल-सिक्त है ॥१२॥

स्व-पर के उपभोग-हित, इस लोक मे जो हर्ष से।
सीखते नैपुण्य शिल्पादिक गृही उत्कर्ष से ॥१३॥

उसी कारण घोर वध, बन्धन व दारुण ताड़ना।
ललित-इन्द्रिय सभी शिक्षण-समय सहते शुभमना ॥१४॥

उन कलाओ के लिए वे पूजते गुरु को सदा।
तुष्ट आज्ञा पालते सत्कार कर नमते मुदा ॥१५॥

क्या अधिक यदि शिष्य गुरु के वचन को माने सही।
श्रुतपरायण मोक्ष-इच्छुक गुरु वचन लांघे नही ॥१६॥

स्थान शय्याऽऽसन करे गुरुदेव से नीचे सदा।
चले अनुपद हो कृताञ्जलि करे पद-वन्दन मुदा ॥१७॥

सुगुरु का तन या उपधि से स्पर्श हो तो नाथ हे!
खमे मुझ अपराध फिर न कभी करूंगा यों कहे ॥१८॥

बैल दुर्गत कशा-प्रेरित यथा रथ वहता अरे।
कार्य त्यो दुर्बुद्धि बारबार कहने पर करे ॥१९॥

(बुलाते आलापते बठा हुआ न सुने गिरा।
तज निजासन धीर उत्तर दे उन्हे सुविनय भरा।)

हेतुओ से काल इच्छा, जान फिर उपचार वर।
तदनुकूल उपाय से गुरु-इष्ट कार्य करे प्रवर ॥२०॥

विपद है अविनीत के सुविनीत के सम्पत्ति है।
ज्ञात दोनो बात जिसको उसे शिक्षा-प्राप्ति है ॥२१॥

ऋधी-श्री-गर्वी, चण्ड, साहसी[1] पिशुन, हीन-प्रेपण[2] जो हो।
विनय-अकोविद असंविभागी धर्म-अज्ञ को मोक्ष न हो ॥२२॥

जो गीतार्थ व विनय-कुशल फिर गुरु निर्देशो पर चलते।
दुस्तर भवौघ तरते कर्म खपा, वे उत्तम गति वरते ॥२३॥

1. बिना सोचे-समझे कार्य करनेवाला। २ गुरु की आज्ञा का यथासमय पालन करने-वाला।

नवाँ अध्ययन

विनय-समाधि

(तीसरा उद्देशक)

आहिताग्नि ज्यो सिखि की त्यो गुरु सेवा सजग करे नित ही।
आलोकित इगित लख गुरु मन आराधे जो पूज्य वही ॥१॥

आचारार्थ विनय शुश्रूषा करे सुगुरु वच ग्रहे सही।
यथोपदिष्ट कार्यकारी आशातन न करे पूज्य वही ॥२॥

जो रात्निक पर्याय जेष्ठ-लघु का भी विनय करे ध्रुव ही।
नम्र, सत्यवादी, गुरुसेवी आज्ञाकर हो पूज्य वही ॥३॥

यापनार्थ[1] अज्ञात, उञ्छ समुदानिक विशुद्ध अशन ग्रही।
जो कि अलाभ-लाभ पर खेद-प्रशसा न करे पूज्य वही ॥४॥

भक्त-पान शय्याशन सस्तर देते हो अतिमात्र गृही।
फिर भी जो अल्पेच्छु तोष-रत आत्म-तुष्ट हो पूज्य वही ॥५॥

धन आशा से नर सह लेता लोह-बाण सोत्साह सही।
हो निरपेक्ष सहे वाणी के काटो को जो पूज्य वही ॥६॥

शल्य अयोमय स्वल्प काल पीड़क हैं और सुउद्धर हैं।
(पर) कटु वच कटक दुर्धर वैर बढाते महा भयकर हैं ॥७॥

दौर्मनस्य करता दुर्वचनो का आघात कर्णगत ही।
वीराऽग्रणी, जितेन्द्रिय धर्म मानकर सहता पूज्य वही ॥८॥

पीछे निन्दा करे न सम्मुख प्रत्यनीक वच कहे नही।
निश्चय या अप्रियकारी भाषा न कहे जो पूज्य वही ॥९॥

अकुहक[2] और अलोलुप निच्छल अपिशुन अदीनवृत्ति कही।
आत्म-प्रशसा करे न करवाए अकुतूहल पूज्य वही ॥१०॥

---

१ जो जीवन-यापन के लिये अपना परिचय न दे।

२. इन्द्रजाल आदि के चमत्कार प्रदर्शित नहीं करनेवाला।

गुण से साधु, असाधु अगुण से ले मुनि गुण तज अवगुण ही।
जान आत्म से आत्मा को सम राग-द्वेष, हो पज्य वही ॥११॥

बाल वृद्ध स्त्री पुरुष साधु या गृहि निन्दा न करे कब ही।
क्रोध मान को जो तजता है होता जग मे पूज्य वही ॥१२॥

तात सुता को त्यों मानित गुरु दे शिष्यो को मान सही।
मान्य जितेन्द्रिय तप ऋत-रत का मान करे जो वही ॥१३॥

गुणसागर गरु सदुपदेश सुनकर मेधावो प्रतिपल ही।
पंच रक्त व त्रिगुप्त कषायहीन हो विचरे पूज्य वही ॥१४॥

जिनमत निपुण व विनय-कुशल सेवा गुरु की कर सतत प्रवर।
पूर्व रजोमल क्षय कर भास्वर अतुल सुगति पाता मुनिवर ॥१५॥

नवाँ अध्ययन

विनय समाधि

(चतुर्थ उद्देशक)

सुना आयुष्मन् यहा मैंने सही भगवान से।
चार विनय-समाधि पद आख्यात स्थविर महान से ॥१॥

कौन से वे चार विनय-समाधि सुस्थानक अहो।
जो स्थविर भगवान से प्रज्ञप्त हैं मुझसे कहो ॥२॥

चार विनय-समाधि पद ये कहे हैं भगवान ने।
विनय, श्रुत, तप और फिर आचार स्थविर महान ने ॥३॥

जो जितेन्द्रिय विनयश्रुत तप और फिर आचार मे।
स्वयं को स्थापित करे पडित वही ससार में ॥४॥

चतुर्धा होती विनय सुसमाधि निश्चित तद्यथा।
सुगुरु-शासन श्रवण इच्छुक सम्यगाज्ञा पालता ॥५॥

वेद आराधे तथा अभिमान मुनि न करे कही।
यही चौथा सुपद है फिर श्लोक भी यह है यही ॥६॥

†हित शिक्षा सुनना इच्छे फिर ग्रहे तथा आचारण करे।
विनय कुशल हू मैं यो आत्मार्थी न कभी अभिमान करे ॥७॥

*चतुर्विध है श्रुत समाधि कही स्थविर ने तद्यथा।
पठन से सद्ज्ञान होगा अत श्रुत को सीखता ॥८॥

चित्त की एकाग्रता सुखदायिनी होगी मुदा।
धर्म स्थित निज को करूँगा मान यो सीखे सदा ॥९॥

अपर को भी स्थित करूँगा सीखता यो जानकर।
यही चौथा पद यहाँ है श्लोक भी है श्रेष्ठतर ॥१०॥

श्रुत पठन से ज्ञान फिर एकाग्र मन होता प्रवर।
स्थित व स्थापन करे श्रुत रत हो श्रुतो को सीखकर ॥११॥

चतुर्विध है तप-समाधि कही स्थविर ने तद्यथा।
नही तप इहलोक या परलोक हित करता तथा ॥१२॥

कीर्तिवर्ण व शब्द श्लाघा अर्थ तप न करे मुनि।
निर्जरा हित तप करे अन्यार्थ तजकर सद्गुणी ॥१३॥

यही अन्तिम तूर्य पद है श्लोक भी इस विषय का।
सुनो मुझसे है यहाँ इस भाँति विरचित स्थविर का ॥१४॥

†नाना गुण तप-रक्त निराशक व निर्जरार्थी वह होता।
तप से पूर्व पाप हरकर फिर तप-समाधि युत वह होता ॥१५॥

*चतुर्धा आचार की सुसमाधि निश्चय तद्यथा।
नही अत्र-परत्र-हित आचार मुनिवर पालता ॥१६॥

कीर्ति वर्ण व शब्द श्लाघा हित न पाले चरित को।
सिवा आर्हत-हेतु के पाले नही आचार को ॥१७॥

यही अन्तिम तूर्य पद है श्लोक भी इस विषय का।
सुनो मुझसे है यहाँ इस भाँति विरचित स्थविर का ॥१८॥

†जिन वच रत अविवादी जो परिपूर्ण मोक्ष इच्छुक उत्कट।
वह आचार-समाधि सुसंवृत दान्त मोक्ष करता सुनिकट ॥१९॥

चार समाधि-स्वरूप समझ सुसमाहितात्म सुविशुद्ध महान।
निज हित सुविपुल हित सुखकारी मोक्ष प्राप्त करता अम्लान ॥२०॥

गति चतुष्क को छोड़ सर्वथा जन्म-मरण से मुक्त बने।
शाश्वत सिद्ध बने व महर्धिक देव स्वल्प रजयुक्त बने ॥२१॥

दशवाँ अध्ययन

भिक्षु

जिन-शिक्षा से हो दीक्षित जिन-प्रवचन मे स्थिर-चित्त सही।
स्त्री वशवर्ती हो न वान्त सुख फिर न ग्रहे जो भिक्षु वही ॥१॥

भ खोदे न खुदाए, न पिए न पिलाए शीतोदक ही।
निशित शस्त्र सम पावक न जलाए जलवाए भिक्षु वही ॥२॥

हवा करे न कराए हरित कटाए काटे स्वयं नही।
बीज विवर्जित करे न भोगे जो सचित्त को भिक्षु वही ॥३॥

पृथ्वी तृण काष्ठाश्रित स्थावर-त्रस वध होता निश्चय ही।
अतः पचन-पाचन, औद्देशिक अशन तजे जो भिक्षु वही ॥४॥

रोचित ज्ञात-पुत्र का माने षट् काया को निज सम ही।
पंच महाव्रत पाले पंचाश्रव[1] रोके जो भिक्षु वही ॥५॥

चार कषाय तजे ध्रुव योगी बुद्ध वचन में संतत ही।
स्वर्ण रजत से रहित अधन गृहि-योग तजे जो भिक्षु वही ॥६॥

सम्यग्दृष्टि, अमूढ, ज्ञान तप संयम मे श्रद्धालु सही।
तप से हरे पूर्व अघ मन वच तन संवृत जो भिक्षु वही ॥७॥

विविध अशन-पानक त्यों खाद्य-स्वाद्य को कर संप्राप्त।
कल, परसों हित उसे न संचित करे-कराए भिक्षु वही ॥८॥

विविध अशन-पानक त्यो खाद्य-स्वाद्य को कर सप्राप्त कहीं।
सार्धमिक सह खाए फिर स्वाध्याय रक्त हो भिक्षु वही ॥९॥

विग्रहकारी कथा तजे कोपेन प्रशान्त जितेन्द्रिय ही।
संयम मे ध्रुव-योग अविहेठक[2] व अनाकुल भिक्षु वही ॥१०॥

जो सहता आक्रोश प्रहार तर्जना इन्द्रिय-कंटक[3] ही।
भीमशब्द-युत अट्टहास सहता सुख-दुख सम भिक्षु वही ॥११॥

---

१ स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत इन्द्रिय। २ जो दूसरो को तिरस्कृत नहीं करता।
३ अप्रिय शब्दादि।

पडिमा स्वीकृत कर श्मशान में भीम दृश्य लख डरे नहीं।
विविध सुगुण तप रक्त रहे तन ममता न करे भिक्षु वही ॥१२॥

'हताऽऽकृट'[1] लूसित[2] असकृत्[3] व्युत्सृष्ट त्यक्त-तन अविचल ही।
पृथ्वी सम सहता व निदान कुतूहल तजता भिक्षु वही ॥१३॥

तन के परिषह जीत उबारे जाति पंथ से स्वात्म सही।
जन्म-मरण को महा भयद लख सयम तप रत भिक्षु वही ॥१४॥

हस्त-पाद-वच इन्द्रिय-सयत आध्यात्मिकता मे रत ही।
समाहितात्मा सूत्र-अर्थ सम्यग् जाने जो भिक्षु वही ॥१५॥

उपधि-अमूर्च्छित, गृद्धिहीन, अज्ञात, उञ्छ, निर्दोष सही।
क्रय-विक्रय-संचय-विरक्त सब सग तजे जो भिक्षु वही ॥१६॥

रस अगृद्ध अलोल उञ्छचारी, जीवन काक्षा न कही।
तजे ऋद्धि सत्कार प्रतिष्ठा स्थिर निश्छल जो भिक्षु वही ॥१७॥

यह कुशील यों कहे न पर को कुपित बने त्यों कहे नही।
पुण्य पाप प्रत्येक जान गर्वी न बने जो भिक्षु वही ॥१८॥

नही जाति-मद नहीं रूप-मद लाभ व श्रुत-मद जिसे नही।
सभी मदो को तजकर रहता धर्म ध्यान रत भिक्षु वही ॥१९॥

करे प्रवेदित आर्य मार्ग धर्मस्थ स्व-पर को करे सही।
कुशील लिंग व हास्य कुहक छोड़े दीक्षित हो भिक्षु वही ॥२०॥

अशुचि अशाश्वत देहवास का आत्म-हितार्थी त्याग करे।
जन्म-मरण बन्धन को काट, अपुनरागम-गति भिक्षु वरे ॥२१॥

---

१. लकड़ी आदि से पीटे जाने पर। २ कठोर वचनो से आक्षेप किए जाने पर।
३ शस्त्र आदि से छेदन-भेदन किए जाने पर। ४ बार-बार।

प्रथम चूलिका
रति-वाक्या

प्रव्रज्या के बाद आ पडे दुख असह्य हे शिष्य ! कदा ।
संयम-विचलित मन हो जाए चाहो बनना गृही यदा ॥१॥

चरित्र-त्याग से पहले सोचो सम्यक्तया अठारह स्थान ।
जो प्रेरक होते ह्यरश्मि गजांऽकुश नौ-पतवार[1] समान ॥२॥

हे आत्मन् ! इस दुषम काल में जीवन अधिक कठिनतर है ।
तुच्छ क्षणिक ये काम-भोग हैं बहुलतया कपटी नर हैं ॥३॥

दुःख चिरस्थायी न रहेगा जीवन में यह हे आत्मन् !
नीच खुशामद करनी होगी करना होगा वान्त ग्रहण ॥४॥

नारकीय जीवन स्वीकृत होगा व गृहस्थी मे बसकर ।
दुर्लभ होगा धर्म पालना माया-पाशो मे फँसकर ॥५॥

विविध रोग आतङ्कों से यह नष्ट सुकोमल होगा तन ।
इष्टाऽनिष्ट वियोग-योग संकल्प करेंगे व्याकुल मन ॥६॥

क्लेश-युक्त गृहिवास और फिर निरुपक्लेश संयम-धन है ।
बन्धन है गृहि-वास और चारित्र मोक्ष का साधन है ॥७॥

है गृही-वास सावद्य व असावद्य मुनि की पर्याय समझना ।
बहु साधारण कामभोग हैं, पुण्य-पाप है अपना-अपना ॥८॥

अध्रुव नर-जीवन कुशाग्र जल-बिन्दु तुल्य अति है चंचल ।
बहुत किये हैं पाप अतः यह चपल हुआ मन का अंचल ॥९॥

दुष्प्रतिक्रान्त पूर्व सचित जो पाप कर्म हैं मेरे स्पष्ट ।
भोगे बिना न मोक्ष भोगने पर ही ये सब होंगे नष्ट ॥१०॥

अथवा तीव्र तपस्या द्वारा पूर्व कर्म क्षय हो सकते ।
अन्तिम अष्टादशम स्थान यह और श्लोक भी सुन सकते ॥११॥

---

१. नौका की पतवार ।

भोगो के खातिर अनार्य जब विशद धर्म को तजता है।
अज्ञ, भोग-मूर्च्छित भविष्य का बिल्कुल सोच न करता है ॥१२॥

भूमि पतित ज्यों इन्द्र बाद मे पश्चात्ताप सतत करता।
त्यो अवधावित सर्व-धर्म-परिभ्रष्ट हुआ मुनि दुख धरता ॥१३॥

पहले वन्दनीय होता पीछे अवन्द्य जब वह होता।
स्थानच्युत सुर की नाईं वह सदा बाद में है रोता ॥१४॥

जो पहले पूजित होता फिर वही अपूजित यदि बनता।
राज्य-भ्रष्ट नृप की नाईं अनुताप बाद मे वह करता ॥१५॥

जो पहले मानित होता यदि वही अमानित हो जाता।
क्षुद्र ग्राम-अवरुद्ध सेठ ज्यो, पीछे से वह पछताता ॥१६॥

यौवन के जाने पर जब वह जरा-ग्रस्त हो जाता है।
काटे को विनिगलने वाले मत्स्य भाँति पछताता है ॥१७॥

कुटुम्ब की दुश्चिन्ताओं से प्रतिहत जब वह हो जाता।
बन्धन-बद्ध मतंग भाँति फिर पीछे से है पछताता ॥१८॥

पुत्र-स्त्री परिकीर्ण, मोह-प्रवाह व्याप्त जब हो जाता।
पंक-निमग्न मतङ्ग भाँति वह पीछे से है पछताता ॥१९॥

जिनोपदिष्ट श्रमणता मे यदि रमण आज तक कर पाता।
तो मैं भावितात्म, बहुश्रुत अब तक गणि-पद भी पा जाता ॥२०॥

सयम-रत मुनि का सयम है देवलोक सम सुखदायी।
और अरत के लिए वही फिर महा नरक सम दुखदायी ॥२१॥

सयम-रत मुनिजन को जग मे सुख उत्तम अमरोपम जान।
दु.ख अरत को नरकतुल्य, अत. एव चरित-रत हो धीमान ॥२२॥

विध्यापित यज्ञाग्नि व जहरी अहि अदंष्ट्र ज्यो तेजविहीन।
पराभूत होता त्यो निम्न जनो से धर्म-भ्रष्ट, अघलीन ॥२३॥

भग्न-व्रत धर्मच्युत मुनि का यहाँ कुनाम व अपयश हो।
निम्न जनो से भी निन्दित हो मिले अधम गति उसे अहो ॥२४॥

तीव्र गृद्धि से भोग भोगकर प्रचुर असयम सेवन कर।
दुखद अनिष्ट कुगति मे जाता, जहाँ बोधि फिर है दुष्कर ॥२५॥

क्लेशाऽऽवृत दु.खोपनीत नारक के पल्योपम सागर।
हो जाते हैं पूर्ण एक दिन तो मेरा दुख क्या दुस्तर ॥२६॥

दुख मेरा यह चिर न रहेगा भोग-पिपासा है अस्थिर।
तन बल रहते मिटे न चाहे मिटे मृत्यु पर वह आखिर ॥२७॥

यो दृढ जिसकी आत्म बने वह धर्म न तजे, तजे निज तन।
डिगा न सकती उसे इन्द्रियाँ ज्यो सुमेरु को प्रलय-पवन ॥२८॥

यो धीमान सोच पहचाने आयोपाय[1] विविध पावन।
त्रिकरण योग त्रिगुप्ति-गुप्त जिन वचन अधिष्ठित रहे श्रमण ॥२९॥

---

१ लाभ और उनके साधन।

दूसरी चूलिका
विविक्तचर्या

जिनवर-कथित चूलिका श्रुत को यहाँ कहूंगा मैं स्फुटतर।
पुण्यवान नर हो जाते धर्मोत्साहित जिसको सुनकर ॥१॥

अनुस्रोतगामी बहुजन पर प्रतिस्रोत है जिसका लक्ष्य।
प्रतिस्रोत मे ही आत्मा को ले जाए मोक्षार्थी दक्ष ॥२॥

अनुस्रोत सुख माने जग, आश्रव[1] प्रतिस्रोत विज्ञ का है।
अनुस्रोत ससार तथा प्रतिस्रोत उतार उसी का है ॥३॥

अत चरित्र-पराक्रम सवर-बहुल, समाहित मुनि जन के।
लिए यहाँ द्रष्टव्य नियम गुणचर्यादिक जो है उनके ॥४॥

समुदानिक चर्या अज्ञात उंछ एकान्त व अगृह-निवास।
कलह-त्याग, अल्पोपधि, सुन्दरऋषिजनविहारचर्या खास ॥५॥

जनाऽऽकीर्ण, अवमान[2] भोज तज, हृत[3] उत्सन्न दृष्ट जल-भक्त।
ले संसृष्ट-करो से मुनि तज्जात[4] लिप्त हो तो विधियुक्त ॥६॥

मद्य-मास-त्यागी अमत्सरी पुनः पुनः रस त्याग करे।
बार-बार कायोत्सर्गी स्वाध्याय-योग[5] मे यत्न करे ॥७॥

ये शय्यादि मुझे ही देना यो न गृही को मुनि बांधे।
ग्राम नगर कुल देश कही भी ममता भाव नही सांधे ॥८॥

गृहि-शुश्रूषा अभिवादन वन्दन-पूजन न करे मुनिवर।
असक्लिष्ट जन साथ बसे, ज्यो हो न चरित्र-हानि तिल-भर ॥९॥

समगुण अथवा अधिक गुणी मुनि निपुण सहायक मिले न जब।
काम-विरत सब पाप-रहित एकाकी गण मे विचरे तब ॥१०॥

---

१ इन्द्रिय-विषय।
२. आकीर्ण और अवमान नामक भोज।
३ प्राय' दृष्ट स्थान से लाया हुआ।
४ दाता जो वस्तु दे रहा है उसी से ससृष्ट।
५ स्वाध्याय के लिये विहित तपस्या।

पावस या फिर मासकल्प कर वहाँ न अगला[1] बास वसे।
सूत्र तथा अर्थानुरूप ही भिक्षु स्वय को सदा कसे ॥११॥

पूर्वाऽपर निशि मे निज को निज से पहचाने महामना।
क्या-क्या किया, शेष क्या करना और शक्य क्या है अधुना ॥१२॥

मेरी स्खलना अन्य या कि मैं देख रहा तज रहा नही।
यो सम्यक् सोचे वह आगे करे नही प्रतिबन्ध कही ॥१३॥

मन वच तन से दुष्प्रवृत्त देखे मुनि निज को यहाँ कभी।
खीचे मन को वापिस, ज्यो हय को लगाम से धीर तभी ॥१४॥

जो सत्पुरुष जितेन्द्रिय यों स्थित-योग धीर रहता गण मे।
कहलाता प्रतिबुद्ध और वह जीता संयम जीवन में ॥१५॥

सर्वेन्द्रिय सुसमाहित होकर आत्म-सुरक्षा करे मुदा।
रक्षित दु.खमुक्त होता, भव-भ्रमण अरक्षित करे सदा ॥१६॥

---

१ चतुर्मास करने के बाद वहाँ फिर दो चतुर्मास न करना, तथा मास कल्प रहने के बाद वहाँ फिर दो मास न रहना।

श्री उत्तराध्ययन

(हिन्दी पद्यानुवाद)

❋ मंगला चरण ❋

अविनाशी अविकार अरुज अज अव्याबाध अनन्त अधीश ।
अक्षय अजर अमर अद्वेष अतनु को नमस्कार नतशीश ॥१॥

अणुव्रत आन्दोलन-उन्नायक जैन-जगत-आदित्य अनन्य ।
राष्ट्र-पूज्य आचार्य चरण तुलसी को पाकर धरणी धन्य ॥२॥

दशवैकालिक आगम का पद्यानुवाद करने के बाद ।
अब उत्तराध्ययन-हिन्दी-पद्यानुवाद करता साल्हाद ॥३॥

पहला अध्ययन

विनयश्रुत

जो संयोग-मुक्त, अनगार, भिक्षु है, उसका मूल विनय ।
प्रकट करूँगा क्रमश अब तुम मुझे सुनो होकर तन्मय ॥१॥

गुरु-आज्ञा, निर्देश-प्रपालक, गुरु-सेवा को अपनाता ।
जो इंगित, आकार-विज्ञ है, वह मुनि विनयी कहलाता ॥२॥

जो आज्ञा, निर्देश तथा गुरु-सेवा को न निभा पाता ।
प्रत्यनीक फिर असंबुद्ध, अविनीत वही है कहलाता ॥३॥

सड़े कान वाली कुतिया को ज्यो कि निकाला जाता है ।
प्रत्यनीक दु शील मुखर त्यो गण से टाला जाता है ॥४॥

छोड़ चावलो की भूसी, ज्यो सूअर विष्ठा खाता है ।
त्यो वह मूढ शील को तज दु शील सतत अपनाता है ॥५॥

कुतिया सूअर की ज्यो दु शीलो के हीन-भाव सुनकर ।
विनय धर्म मे निज को स्थापित करे, आत्म-हित इच्छुक नर ॥६॥

अत विनय का पालन करे कि जिससे मिले विशद आचार ।
बुद्ध-पुत्र मोक्षार्थी को न कही पर भी मिलती फटकार ॥७॥

अमुखर, शान्त, शिष्य आचार्यों के सन्निकट सदा रहकर ।
अर्थ-युक्त पद सीखे तजे निरर्थक बाते सब सहकर ॥८॥

अनुशासित होने पर क्रुद्ध न बने क्षमा धारे पडित ।
तजे क्षुद्र-संसर्ग, हास्य, क्रीड़ा भी छोड़े गुण-मडित ॥९॥

चडालोचित कार्य न करे तथा न बहुत बोले गुणवान ।
कर स्वाध्याय समय पर फिर एकाकी ध्यान धरे अम्लान ॥१०॥

सहसा चांडालिक करके भी, उसे छिपाए कभी नही ।
कृत को कृत व अकृत को अकृत कहे पूछे सद्गुरु जब ही ॥११॥

दुष्ट अश्व चाबुक को त्यों चाहे गुरु वचन न बारम्बार।
कशा देख विनयी हय की ज्यो अशुभ प्रवृत्ति तजे हर बार ॥१२॥

कुशील कटुभाषी आज्ञालोपक मृदु को भी कुपित बनाता।
चित्तानुग, लघु, दक्ष, शिष्य क्रोधित गुरु को भी शान्त बनाता ॥१३॥

पूछे बिना न बोले किंचित् झूठ न कहे पूछने पर।
करे क्रोध को अफल तथा प्रिय अप्रिय सभी सहे मुनिवर ॥१४॥

यह आत्मा दुर्दम है अत. चाहिए करना आत्म-दमन।
इह पर-भव मे सदा सुखी रहता दान्तात्मा प्रमुदित मन ॥१५॥

तप-संयम से निज आत्मा का दमन करूँ पथ श्रेष्ठ यही।
अन्य लोग, वध-बन्धन द्वारा दमन करे यह उचित नही ॥१६॥

जन समक्ष या विजन स्थान मे गुरुजन से न बने प्रतिकूल।
मन वच, काया से सुशिष्य न कदापि करे एतादृश भूल ॥१७॥

गुरु के आगे-पीछे नही बराबर भी बैठे अनगार।
सटकर भी बैठे न सुगुरु वच शय्या-स्थित न करे स्वीकार ॥१८॥

पर्यस्तिका व पक्षपिण्ड आसन से कभी नही बैठे।
जब कि समीप स्थित गुरु हो तब पाँव पसार नही बैठे ॥१९॥

संबोधित आचार्य करे जब तब मुनि नही रहे चुपचाप।
मोक्षार्थी गुरु-निकट कृपा-अभिमुख बन सदा रहे निष्पाप ॥२०॥

सकृत व पुन-पुन सबोधित करने पर न रहे बैठा।
आसन तज गुरु-वचन यत्न से ग्रहण करे धृति मे पैठा ॥२१॥

आसनगत या शय्यागत न कभी भी पूछे गुरुजन से।
आ समीप, उत्कटुकासन हो प्राजलि पुट, पूछे उनसे ॥२२॥

ऐसे विनयवान को सूत्र-अर्थ फिर तदुभय सिखलाए।
प्रश्न पछने पर सुशिष्य को सगुरु यथाश्रुत बतलाए ॥२३॥

तजे झूठ, फिर निश्चयकारी गिरा न बोले भिक्षु कदा।
भाषा के सब दोष तजे, मुनि छोड़े माया-पाप सदा ॥२४॥

मुनि सावद्य, निरर्थक, मार्मिक वचन न कहे पूछने पर।
विना प्रयोजन स्व-पर उभय के लिए न बोले जीवन-भर ॥२५॥

स्मर व अगार, संधियों पर स्थित अथवा राजपथ पर भी।
नही अकेली स्त्री सह ठहरे नही बात भी करे कभी ॥२६॥

मृदु कठोर वचनों से गुरु जो सीख मुझे देते हरबार।
मेरे हित के लिए जान यों करे यत्नपूर्वक स्वीकार ॥२७॥

मृदु, कट-वचन युक्त दुष्कृत नाशक शिक्षा को भी सुनकर।
उसे प्राज्ञ हित रूप मानता करता द्वेष असाधक नर ॥२८॥

अभय, विज्ञजन, कठोर शिक्षा को भी निज हितकर गिनता।
क्षमा, शुद्धिकर अनुशासन मूढों के द्वेष-हेतु बनता ॥२९॥

मुनि अनुच्च, स्थिर, अकम्प आसन पर बैठे अचपल बनकर।
बिना प्रयोजन न उठे स्वल्प बार कारणवश उठे प्रवर ॥३०॥

जाए मुनि भिक्षार्थ समय पर वापिस आए स्व समय पर
तज कर असमय को फिर समयोचित नित कार्य करे गुणधर ॥३१॥

नही पक्ति मे खडा रहे दत्तेषण रक्त रहे मुनिवर।
कर प्रतिरूप-गवेषण परिमित खाये यथा समय धृति-धर ॥३२॥

अधिक दूर अति निकट न ठहरे भिक्षु व दाता के सम्मुख भी।
एकाकी ठहरे अशनार्थ, न जाए उसको लाँघ कभी भी ॥३३॥

ऊँचे से नीचे या अति दूर निकट से भी न ग्रहे।
पर-कृत प्राशुक अशन ग्रहे संयत सयम को सतत वहे ॥३४॥

प्राण, बीज से रहित तथा सवृत प्रतिछन्न उपाश्रय पर।
यतनापूर्वक साधार्मिक सह खाये न गिराए भू पर ॥३५॥

किया, पकाया, काटा अच्छा घृत यह अच्छा हुआ मरा।
अच्छा रस, अति प्रिय यह है, यो मुनि सावद्य न कहे गिरा ॥३६॥

सीख सुज्ञ को देते गुरु खुश होते ज्यो वर हय वाहक।
सीख अज्ञ को देते क्लान्त बने ज्यो दुष्ट अश्व वाहक ॥३७॥

हित शासन को ठोकर, वध, आक्रोश, चपेट मानता है ।
पापदृष्टि अविनीत अहितकर गुरु की सीख जानता है ॥३८॥

ज्ञाति वन्धु, सुत लख गुरु सीख मुझे देते, माने सुविनीत ।
निज को दास समझ, गुरु शासन माने पापदृष्टि अविनीत ॥३९॥

गुरु को कुपित न करे तथा फिर नही कुपित हो स्वय कभी ।
बुद्ध जनो का घातक न बनें न वने छिद्र-गवेषक भी ॥४०॥

कुपित जान गुरु को, प्रतीतिकारक वचनो से करे प्रसन्न ।
हाथ जोड़ कर शान्त करे फिर न करूँगा यो कहे वचन ॥४१॥

धर्मार्जित या फिर तत्वज्ञाऽऽचरित जो कि व्यवहार कहा ।
उस पर चलने वाले की न कभी होगी निन्दा, गर्हा ॥४२॥

गुरु के वचन मनोगत भावो को सम्यक् पहचान मुदा ।
वाणी से स्वीकृत कर कार्य रूप मे परिणत करे सदा ॥४३॥

विनती, अप्रेरित भी सुप्रेरित ज्यो कार्य करे सत्वर ।
यथोपदिष्ट सुकृत कार्यों को करता रहे सतत मतिधर ॥४४॥

सुधी जान यो नम्र बने जो, जग मे यश उसका होता ।
जीवो को ज्यो पृथ्वी त्यो आधारभूत गण का होता ॥४५॥

पूज्य, पूर्व-सस्तुत, सबुद्ध, सुगुरु प्रसन्न होते जिस पर ।
विपुल अर्थ श्रुत लाभ उसे देते प्रसन्न होकर गुरुवर ॥४६॥

पूज्यशास्त्र, गत-सशय, मन रुचि कर्म संपदा-स्थित द्युतिमान् ।
तप सामाचारी व समाधि-सुसवृत पंच महाव्रतवान ॥४७॥

नर गधर्व देव-पूजित वह समल देह को छोड़ यहाँ ।
शाश्वत सिद्ध बने व महर्द्धिक देव स्वल्प-रज बने कहा ॥४८॥

दूसरा अध्ययन

परीषह

भगवत् प्रतिपादित द्वाविंशति परिषह मैंने सुने यहाँ।
श्री भगवान श्रमण काश्यप प्रभु महावीर ने उन्हे कहा ॥१॥

जिन्हे समझकर, सुनकर, परिचित कर, प्रविजित कर भिक्षु सही।
भिक्षाऽऽटन करते नित स्पर्शित होने पर भी डिगे नही ॥२॥

कहो कौन से वे बाईस परिषह यहाँ प्रवेदित हैं।
जो भगवान् श्रमण काश्यप प्रभु महावीर से समुदित हैं ॥३॥

जिन्हे समझकर सुनकर परिचित कर प्रविजित कर भिक्षु सही।
भिक्षाऽऽटन करते नित स्पर्शित होने पर भी डिगे नही ॥४॥

ये है द्वाविंशति परिषह जो महावीर से सुकथित हैं।
श्री भगवान् श्रमण काश्यप के द्वारा जो कि प्रवेदित है ॥५॥

इन्हें समझकर सुनकर परिचित कर प्रविजित कर भिक्ष सही।
भिक्षाऽऽटन करते ये स्पर्शित होते, फिर भी डिगे नही ॥६॥

क्षुधा[१] पिपासा[२] शीत[३] उष्ण[४] फिर दश[५] मशक व अचेल[६] यथा।
अरति[७] अगना[८] चर्या[९] व निषीधिका[१०] परिषह कहा तथा ॥७॥

दु शैय्या[११] आक्रोश[१२] तथा वध[१३] दुखद याचना[१४] कष्ट महा।
फिर अलाभ[१५] रुग्[१६] तृणस्पर्श[१७] प्रस्वेद[१८] परिषह स्पष्ट कहा ॥८॥

पुरस्कार[१९] सत्कार तत प्रज्ञा[२०] अज्ञान[२१] व दर्शन[२२] है।
मुनि-जीवन मे इन सबका नित होता रहता स्पर्शन है ॥९॥

काश्यप ने जो किए प्रवेदित परीषहो के यहाँ विभाग।
उनका क्रमश प्रतिपादन करता हूँ मुझे सुनो शुभभाग ॥१०॥

तन मे क्षुधा व्याप्त होने पर भिक्षु बलिष्ठ तपस्वी जो।
काटे न कटाए व पचन-पाचन को तजे मनस्वी हो ॥११॥

---

१ ऊपर के २२ अक परीषहो की सख्या के सूचक हैं।

काली पर्वाङ्ग-सदृश कृश-तन, स्पष्ट दीखता धमनी-जाल।
अशन-पान-मात्रज्ञ, अदीन-मना फिर भी विचरे उस काल ॥१२॥

तत प्यास लगने पर पाप-जुगुप्सी सयत लज्जावान।
शीतोदक न ग्रहे मुनि विकृत नीर की खोज करे धीमान् ॥१३॥

छाया-रहित विजन-पथ मे, प्यासाऽऽकुल वने अतीव कदा।
शुष्क मुह मुनि, अदीनता से तृषा-परीषह सहे तदा ॥१४॥

हुए विचरते, रूक्ष, विरत मुनि को सर्दी लगती भारी।
फिर भी जिन-शासन को सुन वह समय न लाघे व्रतधारी ॥१५॥

शीत-निवारक स्थान वस्त्र भी मेरे पास न है पर्याप्त।
तो फिर अग्नि ताप लूँ, यों चिन्तन भी न करे संयम-प्राप्त ॥१६॥

ग्रीष्म-ताप से तप्त, दाह-पीडित अत्यन्त वने जिस बार।
सुख के लिए न आकुल, व्याकुल वने कभी सयत धृति धार ॥१७॥

ग्रीष्म-तप्त, मेधावी स्नान न करना चाहे यहाँ कभी।
जल से तन सीचे न, हवा भी न करे मुनि निज तन पर भी ॥१८॥

दंश-मशक स्पर्शित होने पर, रखे महा मुनिवर समता।
ज्यों कि शूर गज संगर मे, आगे हो अरियो को दमता ॥१९॥

रुधिर, मांस खाने पर भी न हटाए, त्रस्त न हो मुनिवर।
मन भी म्लान न करे, न मारे करे उपेक्षा ही उन पर ॥२०॥

वस्त्र जीर्ण हो गये सभी ये, बनू अचेलक मैं इस बार।
अथवा बनू सचेलक अब मैं यो न भिक्षवर करे विचार ॥२१॥

कभी अचेलक कभी सचेलक होते श्रमण यहाँ मन मार।
इन्हे धर्म-हित हितकर समझ न व्याकुल हो ज्ञानी अनगार ॥२२॥

गाँव-गाँव मे विहरन करते हुए अकिचन मुनिजन को।
कभी अरति हो जाए तो फिर सहन करे उस परीषह को ॥२३॥

विरत, आत्म-रक्षक मुनि, अरति परीषह को देकर के पीठ।
निरारभ, उपशान्त, धर्म उपवन मे रमता रहे पुनीत ॥२४॥

इस जग मे मनुजों के लिए नारियाँ तीव्र लेप सम हैं।
सम्यक् इसे जानता उसका सफल श्रमणता का क्रम है। ॥२५॥

दलदल सम पहचान स्त्रियों को, उनमे न फंसे मेधावी।
संयम के पथ मे विचरे नित आत्म-गवेषक समभावी ॥२६॥

प्राशुक-भोजी परीषहो को जीत श्रमणता वहन करे।
ग्राम, नगर या निगम राजधानी मे एकाकी विचरे ॥२७॥

असदृश होकर भिक्षु रहे नित न करे परिग्रह-संचय।
रहे गृहस्थों से निर्लिप्त तथा विचरे होकर अनिलय ॥२८॥

शून्यागार, श्मशान, वृक्ष के नीचे रहे अकेला शान्त।
सर्व चपलताओ को तजकर पर को त्रास न दे मुनि दान्त ॥२९॥

तत्र-स्थित उपसर्ग प्राप्त हो सोचे ये क्या कर लेगे अब।
लेकिन अनिष्ट-शंका से डरकर अन्यत्र न जाए मुनि तब ॥३०॥

प्राणवान्, सुतपस्वी उच्चावच शय्या से मर्यादा को—
लाघे नही, किन्तु जो पाप-दृष्टि वह लाँघे मर्यादा को ॥३१॥

अच्छा-बुरा विविक्त स्थान् मिलने पर ऐसे सोचे स्पष्ट।
एक रात्रि मे यह क्या कर लेगा ? यो सोच सहे सब कष्ट ॥३२॥

यदि कोई गाली दे मुनि को उस पर क्रोध न करे कही।
क्योंकि क्रोध से बने मूढ सम अत. क्रोध को तजे सही ॥३३॥

कठोर, दारुण, कंटक-सम चुभनेवाली भाषा सुनकर।
उसे न मन मे सोचे क उपेक्षा ही मौनी बनकर ॥३४॥

क्रोध न करे पीटने पर भी मन भी दूषित करे नहीं।
परम क्षमा को जान, धर्म का चिन्तन भिक्षु करे नित ही ॥३५॥

श्रमण दान्त सयत को कोई पीटे कही मनुष्य अनार्य।
नही जीव का नाश कभी होता यों सोचे संयत आर्य ॥३६॥

भव्यो ! अति दुष्कर अनगार भिक्षु की चर्या का अभ्यास।
सभी वस्तुए याचित हैं न अयाचित कुछ भी उसके पास ॥३७॥

गोचराग्रगत मुनि के लिए न गृहि-सम्मुख कर का पसारना।
सरल, अत. गृहवास श्रेय है यो मन मे न करे विचारणा ॥३८॥

भोजन बन जाने पर गृहि-सदनो मे करे एषणा संत।
थोड़ा मिलने या कि न मिलने पर अनुताप न करे महन्त ॥३९॥

आज न भिक्षा मुझे मिली पर सभव है कल को मिल जाए।
जो यो सोचे उसे अलाभ सताता नही कही वह जाए ॥४०॥

रोगोत्पन्न वेदना पीडित होने पर न बने मुनि दीन।
प्रज्ञा को स्थिर रखे प्राप्त दुःख सहन करे हो समता-लीन ॥४१॥

आत्म-गवेषक समाधिस्थ समझे न चिकित्सा को अच्छा।
करे, कराये नही चिकित्सा यही श्रमणता है सच्चा ॥४२॥

रूक्ष गात्र व अचेलक सयत और तपस्वी के जीवन मे।
तृण पर सोने से होती है चुभन-व्यथा उस मुनि के तन मे ॥४३॥

अति आतप पड़ने पर अतुल वेदना हो जाती यो जान।
फिर भी वस्त्र न धारे तन पर तृण पीड़ित वह साधु महान ॥४४॥

ग्रीष्म-ताप से तप्त तथा प्रस्वेद रजो से पकिल गात्र।
है फिर भी मेधावी सुख-हित नही विलाप करे तिल मात्र ॥४५॥

आर्य निर्जरापेक्षी धर्म अनुत्तर पाकर वहन करे।
देहनाश तक तन पर स्वेद-जनित परिषह को सहन करे ॥४६॥

अभिवादन सत्कार निमत्रण का सेवन जो करते नृप से।
उनकी इच्छा न करे, धन्य न माने उनको मुनिवर मन से ॥४७॥

अज्ञातैषी, अल्प-कषाय, अलोलुप, अल्प-इच्छु, धीमान्।
रस-मूर्च्छित न बने न करे अनुताप देख पर का सम्मान ॥४८॥

पूर्वार्जित अज्ञान फलद कर्मों के कारण मैं उत्तर।
देना नही जानता किस ही के कुछ पूछे जाने पर ॥४९॥

कृत-अज्ञान फलद ये कर्म उदय मे आते पकने पर।
कर्म-विपाक जान यो अपने को आश्वासन दे मुनिवर ॥५०॥

मिथुन-विरति, इन्द्रिय-मन-दमन, निरर्थक मेरे व्रत-सघात।
क्योकि धर्म शुभकर या अघकर यह न जानता मैं साक्षात् ॥५१॥

तप-उपधान-भिक्षु प्रतिमादिक धारण करने पर भी हन्त !
अब तक छद्मभाव से दूर न हुआ न ऐसे सोचे सन्त ॥५२॥

निश्चित पर-भव है न तथा मिलती न तपस्वी को ऋद्धि।
ठगा गया मैं तो हा ! ऐसी हो न कभी मुनि की बुद्धि ॥५३॥

जो कहते जिन हुए व होंगे तथा अभी भी हैं जिनवर।
झूठ बोलते हैं वे सारे—यों न कभी सोचे मुनिवर ॥५४॥

ये सब परिषह किये प्रवेदित काश्यप ने जो यहाँ सही।
इनसे स्पर्शित होने पर भी भिक्षु पराजित हो न कहीं ॥५५॥

तीसरा अध्ययन

चातुरंगीय

जन्तु-मात्र के लिए यहाँ दुर्लभ हैं परम अग ये चार।
मानवता, श्रुति, श्रद्धा और पराक्रम सयम मे सुखकार ॥१॥

विविध कर्म कर, विविध जातियो में प्राणी होकर उत्पन्न।
पृथक्-पृथक् ये स्पर्श समूचे जग का कर लेते सम्पन्न ॥२॥

कभी स्वर्ग मे, कभी नरक मे असुर-निकाय बीच जाता।
निज-कृत कर्मानुसार, प्राणी जग मे यो चक्कर खाता ॥३॥

क्षत्रिय बनता कभी तथा चाडाल व बुक्कस बन जाता।
कभी कुन्थु या कीट-पतंगा चीटी बनकर दुख पाता ॥४॥

दुष्ट कर्मवाले प्राणी यो विविध योनियो मे जाकर भी।
उपरम हुए न अब तक जैसे क्षत्रियगण सब कुछ पाकर भी॥५॥

कर्म-सग से जो संमूढ दुखित अति पीडित बन जाते।
कर्मों द्वारा मनुजेतर गतियो मे वे ठेले जाते ॥६॥

क्रमश. कर्मक्षय से शुद्धि प्राप्त कर लेते जीव कदा।
अनायास फिर वे प्राणी पा लेते हैं मनुजत्व तदा ॥७॥

मानव-तन को पाकर भी है दुर्लभ धर्म श्रवण अविकार।
जिसे कि सुनकर क्षमा, अहिसा तप को नर करते स्वीकार ॥८॥

धर्म-श्रवण मिल जाए उसमे श्रद्धा परम सुदुर्लभ स्पष्ट।
मोक्ष-मार्ग को सुनकर भी बहुजन हो जाते उससे भ्रष्ट ॥९॥

श्रुति, श्रद्धा पाकर भी दुर्लभ सयम मे पुरुषार्थ सही।
सयम-रुचि होने पर भी बहुजन कर सकते ग्रहण नही ॥१०॥

नर-भव पाकर, धर्म श्रवण कर, दृढ श्रद्धा को जो चुनता।
प्राप्त-वीर्य, सवृत, सुतपस्वी, कर्म-रजो को वह धुनता ॥११॥

होती शुद्धि सरल की शुद्ध हृदय मे धर्म ठहरता है।
वह घृत-सिक्त अग्नि की ज्यो उत्कृष्ट मोक्ष पद वरता है ॥१२॥

कर्म-हेतु को छोड क्षमा से सयम यश का संचय कर ।
इस पार्थिव तन को तज ऊर्ध्व दिशा मे गति करता वह नर ।।१३।।

विसदृश शील पालकर उत्तम से उत्तम सुर बनते है ।
महा शुक्ल ज्यो दीप्यमान वे पुन. न च्यवन मानते हैं ।।१४।।

दैवी भोगो के हित अर्पित वे करते है ऐच्छिक रूप ।
तथा असंख्य काल तक ऊर्ध्व कल्प मे रहते दिव्य स्वरूप ।।१५।।

यथास्थान वे ठहर वहाँ आयु क्षय होने पर च्यव कर ।
मनुष्य जन्म के साथ दशाग प्राप्त कर लेते है वरतर ।।१६।।

क्षेत्र, मकान, सुवर्ण, दास, पशुओ से भृत जो होता स्थान ।
चारो स्कध काम के सुलुभ, जहाँ वे लेते जन्म प्रधान ।।१७।।

उच्च-गोत्र, फिर मित्र ज्ञाति वाला, अति रूपवान होता ।
महाप्राज्ञ, गत रोग, यशस्वी, विनयी, शक्तिमान होता ।।१८।।

अनुपम, मानवीय भोगो के भोग यहा जीवन-भर अभिनव ।
पूर्व विशुद्ध-धर्म वाले वे शुद्ध बोधि का करते अनुभव ।।१९।।

दुर्लभ जान चार अगो को फिर करके सयम स्वीकार ।
तप से कर्म-क्षय कर शाश्वत होता सिद्ध अचल अविकार ।।२०।।

चौथा अध्ययन

असंस्कृत जीवित

कर न प्रमाद असस्कृत जीवन, है न जरोपनीत का त्राण ।
लेगे किसकी शरण प्रमादी हिंसक अविरत नर पहचान ॥१॥

कुमति ग्रहण कर पापो से धन अर्जन करते है तू देख ।
मरने तत्पर, धन तज, कर्म-बद्ध वे जाते नरक अनेक ॥२॥

ज्यो स्व-कर्म से सन्धि-मुख स्थित गृहीत तस्कर मारा जाता ।
त्यो पापी नर इह-पर-भव मे कृत कर्मों से छूट न पाता ॥३॥

ससृति-प्राप्त जीव परिजन-हित कृत्य जो कि साधारण करते ।
किन्तु विपाक समय में उनके बान्धव भी न बन्धुता धरते ॥४॥

अत्र-परत्र लोक मे धन से त्राण न जीव प्रमादी पाता ।
नष्ट दीप ज्यो प्रबल मोह से नय-पथ-विज्ञ अज्ञ बन जाता ॥५॥

सुप्तो मे भी जागृत, प्रमाद में प्रत्यय न करे पंडित जन ।
अप्रमत्त भारड विहग ज्यो रहे, घोर है काल, अबल तन ॥६॥

छुट-पुट दोषो को भी पाश समझ, भय खाता विचरे मुनिजन ।
लाभ-हेतु तन-पोषण करे, अलाभ जान विध्वस करे तन ॥७॥

स्पृहा-रोध से सकवच शिक्षित हय ज्यों रण-विजयी हो जाता ।
त्यो पहले जीवन मे अप्रमत्त रह झट मोक्ष-स्थल पाता ॥८॥

पहले धर्म न करे कहे पीछे कर लूगा वह ध्रववादी ।
आयु-शिथिल, तन-भेद मृत्यु द्वारा होने पर बने विषादी ॥९॥

झट विवेक जगता न अत. उठ काम-भोग आलस्य छोड अब ।
जान लोक को, समता मे रम, आत्मरक्ष, अप्रमत्त विचर अब ॥१०॥

उग्र विहारी, मोह-विजय-हित, वार-बार वह यत्न करे ।
विविध स्पर्श पीड़ित होने पर, उन पर कभी न द्वेष करे ॥११॥

मतिहर तथा लुभानेवाले स्पर्शों मे मन को न लगाए।
क्रोध मान माया व लोभ को छोड़ सतत निज आत्म बचाए ॥१२॥

राग-दोष-रत, तुच्छ, अन्यतीर्थिक, परवश संस्कृत व अधर्मी।
जन से दूर रहे गुण-इच्छा रखे आयु-पर्यन्त सुकर्मी ॥१३॥

पाँचवाँ अध्ययन

अकाम-सकाम मरण

महौघ, दुस्तर अर्णव से तिर गये कई मानव यतिमान।
उनमें एक महान प्राज्ञ ने ऐसा स्पष्ट किया फरमान ॥१॥

ज्ञातृ-पुत्र ने दो प्रकार से मरण कहा है यहाँ यथा।
पहला मरण सकाम दूसरा मरण अकाम प्रसिद्ध तथा ॥२॥

बाल-जनो का मरण अकाम यहाँ अनेकधा होता है।
मरण सकाम पंडितो का उत्कृष्ट एकधा होता है ॥३॥

महावीर स्वामी ने यहाँ कहा उनमे यह पहला स्थान।
काम-गृद्ध होकर अति क्रूर कर्म करता है वह नादान ॥४॥

पर-भव को देखा न, किन्तु यह चक्षु-दृष्ट है काम-रति।
कामासक्त मनुज की हो जाती असत्य की ओर गति ॥५॥

काम हस्तगत यहा हमारे आगे ये हैं संशय युक्त।
कौन जानता पर-भव है या नही ? अत ये है उपयुक्त ॥६॥

मैं भी सब लोगो के साथ रहूगा यों कहता अज्ञेश।
काम-भोग मे रक्त बना वह पाता नाना विध सक्लेश ॥७॥

अत कठोर दड त्रस स्थावर जीवो को वह देता है।
अर्थ, अनर्थ-प्राणियो की हिसा मे भी रस लेता है ॥८॥

हिंसक, अलीक-भाषी, बाल, पिशुन, शठ तथा मनुज मायी।
सुरा, मास को खाता है फिर इन्हे समझता सुखदायी ॥९॥

काय-वचन-उन्मत्त, वित्त-मूर्च्छित, स्त्री-लोलुप दोनों ओर।
ज्यो शिशुनाग, मृत्तिका को त्यों सचित करता कर्म कठोर ॥१०॥

तत' रोग से स्पृष्ट ग्लान वह पीडित हो दुख पाता है।
फिर निज कृत कर्मों को स्मर के पर-भव से भय खाता है ॥११॥

सुने नरक के स्थान अशीलो की गति मैंने सुनी यहाँ।
क्रूर कर्म वाले अज्ञानी, पाते दु:ख प्रगाढ जहाँ ॥१२॥

जैसा वहाँ औपपातिक स्थल वैसा मैंने सुना सही ।
निज-कृत कर्मानुसार मृत्यु समय वह पछताता तब ही ॥१३॥

समतल राजपंथ को छोड़ विषम पथ पर चल पडता जान ।
धुरी टूट जाने पर शोक-मग्न होता ज्यो गाडीवान ॥१४॥

त्यो ही छोड़ धर्म को जोकि अधर्म पथ को अपनाता ।
मृत्यु-मुह मे पडा अज्ञ शाकटिक भाँति फिर पछताता ॥१५॥

मृत्यु-समय,भय-त्रस्त बाल फिर मरता है वह मृत्यु-अकाम ।
एक दाँव मे ज्यो कि जुआरी दुख पाता धन हार तमाम ॥१६॥

अज्ञ-जनो का अकाम-मरण प्रवेदित किया गया पहचान ।
पडित-जन का सकाम मरण सुनो अब मुझ से तुम मतिमान ॥१७॥

पुण्यवान, सयमी, जितेन्द्रिय का जो अनुश्रुत मरण यथा ।
वह प्रसन्न आघात-रहित होता है सम्यक् मुझे पता ॥१८॥

सभी साधु या सभी गृहस्थो का न सकाम-मरण होता ।
क्योकि गृहस्थी विविध शील मुनि समाज विषम-चरण होता ॥१९॥

एक मुनि-जन से भी गृहि-जन होते सयम-उत्कृष्ट ।
सभी गृहस्थो से मुनिजन फिर होते हैं आचार-विशिष्ट ॥२०॥

चीवर, चर्म, जटा, सघाटी, सिर-मुडन, नग्नत्व सभी ।
दुष्ट शीलवाले मुनि की रक्षा कर सकते ये न कभी ॥२१॥

भिक्षाजीवी यदि कुशील हो तो न नरक से बच पाता ।
मुनि हो, चाहे गृही, सुव्रती हो तो स्वर्ग पहुच जाता ॥२२॥

सामायिक अगो का सेवन करे गृही श्रद्धालु सभी ।
उभय-पक्ष पौषध धारे छोड़े न एक दिन रात कभी ॥२३॥

यो शिक्षा से युक्त सुव्रती करता हुआ यहाँ गृहवास ।
औदारिक तन छोड शीघ्र वह स्वर्गलोक मे करे निवास ॥२४॥

सवृत भिक्षु उभय गति मे से एक अवश्य प्राप्त करता ।
बने महर्द्धिक सुर अथवा सब दु.ख-मुक्त हो भव तरता ॥२५॥

क्रमश उत्तम, मोह-रहित, द्युतिमान देव-आकीर्ण विमान ।
होते हैं उनमे रहनेवाले सुर महा यशस्वी जान ॥२६॥

दीर्घायु व समृद्ध ऋद्धिमान करते है ऐच्छिक रूप ।
अधुनोत्पन्न कान्ति वाले वे अति तेजस्वी सूर्य-स्वरूप ॥२७॥

सयम तप का कर अभ्यास, उन्हीं स्थानों मे वे जाते हैं ।
मुनि हो चाहे गही किन्तु उपशान्त भाव जो अपनाते है ॥२८॥

उन सयत, सत्पूज्य, जितेन्द्रिय का स्वरूप सुनकर अति स्फीत ।
मृत्यु-समय पर शीलवान बहुश्रुत न कभी बनते भयभीत ॥२९॥

निज को तोल, विशेष ग्रहण कर यति धर्मोचित क्षमा वहे ।
तथाभूत आत्मा के द्वारा मेधावी सुप्रसन्न रहे ॥३०॥

तत· मृत्यु आने पर गुरु से अनशन श्रद्धाशील ग्रहे ।
कपट-जनित रोमाच दूर कर देह-भेद चाहता रहे ॥३१॥

मृत्यु-समय मे तप के द्वारा करता तन का त्याग सधीर ।
तीन सकाम-मरण मे से वह किसी एक से मरता वीर ॥३२॥

छठा अध्ययन

क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय

विद्याहीन पुरुष जितने हैं वे सब दुख पैदा करते है।
इस अनन्त ससृति मे बहुश मूढ लुप्त होते रहते है ॥१॥

पाश व जाति-पथो की अत समीक्षा सम्यक् पडित कर।
स्वयं सत्य को खोजे, मैत्री भाव रखे सब जीवो पर ॥२॥

मात, पिता, सुतवधू व भ्राता, भार्या औरस-पुत्र सही।
कर्म-विपाक समय मे ये सब मम रक्षार्थ समर्थ नही ॥३॥

सम्यक्दर्शी उक्त विषय को निज मति से सोचे-समझे।
गृद्धि स्नेह को छोड पूर्व परिचय अभिलाषा सतत तजे ॥४॥

गाय, अश्व, मणि, कुडल, पशु, नर, दासादिक तज देने पर।
मनचाहा तू रूप बनाने मे समर्थ होगा हे नर! ॥५॥

स्थावर, जगम, धन-धान्यादि गृहोपकरण यहा सशक्त है।
किन्तु कर्म पीड़ित को दु:ख-मुक्त करने मे ये अशक्त है॥

सब सुख जीवन मुझे इष्ट है त्यो सब जीवो को भी जान।
प्राणी के प्राणो को न हरे भीति-वैर-उपरत धीमान ॥६॥

परिग्रह को नरक जान, फिर बिना दिया तृण भी न ग्रहे।
पाप-जुगुप्सक, पात्र-दन्त भोजन खाये सतुष्ट रहे ॥७॥

ऐसा कई मानते हैं आचार-विज्ञ केवल बनकर नर।
पाप-त्याग के बिना सर्व दु खो से होता मुक्त यहाँ पर ॥८॥

यो कहते पर क्रिया न करते बन्ध-मोक्ष के सस्थापक वे।
केवल वचन-वीरता से निज को देते है आश्वासन वे ॥९॥

नाना भाषाए, विद्या का अनुशासन, कैसे हो त्राण ?
पाप कर्म मे लिप्त स्वय को विज्ञ मानते हैं अनजान ॥१०॥

मन वच तन से पूर्णतया जो वर्ण रूप तन मे आसक्त।
वे सब अपने लिए दु ख पैदा करते है धर्म विरक्त ॥११॥

इस अनन्त संसृति के लम्बे पथ मे पड़े हुए है सर्व ।
सभी दिशाए देख चले मुनि अप्रमत्त हो रहे निगर्व ॥१२॥

श्रमण, ऊर्ध्व-लक्षी, न विषय-सुख की आकाक्षा करे कही ।
पूर्व कर्म क्षय करने हेतु देह को धारण करे सही ॥१३॥

हो समयज्ञ भूमि पर विचरे, कर्म हेतुओ को ढाए ।
आवश्यक मात्रा मे सहजोत्पन्न प्राप्त भोजन खाए ॥१४॥

लेप-मात्र भी अपने पास न कभी करे सग्रह मुनिवर ।
पक्षी ज्यो निरपेक्ष पात्र ले, भिक्षा-हित जाए घर-घर ॥१५॥

लज्जा, शील, एषणा युत हो गाँवो मे अनियत विचरे ।
प्रमादियो से अप्रमत्त रहे अशन-एषणा करे ॥१६॥

भगवत् अर्हद ज्ञात-पुत्र वैशालिक द्वारा है आख्यात ।
जो कि अनुत्तर ज्ञान व दर्शन धारी व्याख्याता विख्यात ॥१७॥

सातवाँ अध्ययन

उरभ्रीय

यथा पाहुने के खातिर कोई बकरे को अपने घर पर।
रखकर पोषण करता है ओदन यव आदिक उसको देकर ॥१॥

तत पुष्ट परिवृद्ध महोदर जात-मेद हो रहता है।
प्रीणित, विपुल देहवाला वह अतिथि प्रतीक्षा करता है ॥२॥

जब तक नही पाहुना आता, जीता बेचारा तब तक।
आने पर पाहुना छेद सिर खा जाते है उसे वधक ॥३॥

ज्यो कि मेमना मेहमान की नित्य प्रतीक्षा करता है।
बाल अधर्मी त्यों ही नर आयुष्य चाहता रहता है ॥४॥

हिंसक, अज्ञ, मृषावादी फिर पथिक लूटनेवाला नर।
अन्य दत्त हर, चोर, कुतोहर, मायावी, शठ तथा अपर ॥५॥

नारी-विषय गृद्ध फिर महदारंभ-परिग्रह मतवाला।
सुरा, मासभोजी, बलवान व अपर दमन करनेवाला ॥६॥

अज कर्कर-भोजी, तुन्दिल फिर उपचित रुधिरवान पापिष्ट।
ज्यो एलक आदेश चाहता त्यो वह नरकाऽऽयुष्य अशिष्ट ॥७॥

शायनाऽऽसन, धन, यान, कामभोगों को भोग यहाँ जीवन-भर।
दुखाहृत धन-व्यसनो मे कर नष्ट, बहुत अघ-रज कर सचय ॥८॥

अघ से भारी प्राणी, केवल वर्तमान को ही लख पाता।
मेहमान आने पर अज ज्यो मृत्यु-समय पर वह पछताता ॥९॥

फिर आयुष्य पूर्ण होने पर देह छोडकर हिंसक बाल।
अन्धकार युत नरक योनि मे पड़ता परवश नर विकराल ॥१०॥

यथा काकिणी के खातिर कार्षापण मनुज हजार गँवाता।
और अपथ्य आम खाकर नृप निज जीवन सह राज्य गँवाता॥११॥

त्यो मानुष्यक कामभोग ये देवो के वर भोग समक्ष।
सहस्र गुना करने पर भी आ सकते नही दिव्य-समकक्ष ॥१२॥

प्रज्ञावान सुरो की पल्योपम व सागरोपम स्थिति है।
उसको कुछ कम सौ वर्षों मे खो देता जो दुर्मते है ॥१३॥

यथा तीन व्यापारी मूल रकम लेकर के गए विदेश।
एक कमाकर आया अपर मूल लेकर आया निज देश ॥१४॥

वणिक् तीसरा मूल रकम खोकर आया है पहचानो।
यह व्यवहारिक उपमा, धर्म विषय मे इसी भाँति जानो ॥१५॥

नर-भव मूल रकम सम है फिर लाभ देव-गति के सम है।
मूल-नाश से नरक व तिर्यक-गति मे जाते ध्रुव क्रम है ॥१६॥

आपद-वध-मूलक, दो गतियाँ अज्ञो की होती यह तत्त्व।
क्योकि लोल शठ ने पहले ही हार दिया देवत्व, नरत्व ॥१७॥

तत· द्विविधि दुर्गति मे, हारा हुआ जीव होता है जव।
दीर्घकाल के बाद वहाँ से बाहर आना है दुर्लभ ॥१८॥

देख विजित को तथा बाल-पडित की तुलना कर सुविशेष।
नर-भव मे आते वे करते मूल रकम के साथ प्रवेश ॥१९॥

विविध मान वाली शिक्षा से घर पर भी सुव्रत होते है।
वे नर-भव पाते है क्योकि प्राणिगण कर्म-सत्य होते हैं ॥२०॥

जो कि विपुल शिक्षाओं से अतिक्रमण मूल का कर सत्वर।
शीलवान सुविशेष अदीन, प्राप्त करता देवत्व प्रवर ॥२१॥

पराक्रमी मुनि या गृहस्थ के फल को विज्ञ मनुज पहचान।
परास्त होता हुआ स्वय की क्यो न जानता हार महान ॥२२॥

सिन्धु-सलिल की तुलना मे ज्यो कुशा-अग्र जल-बिन्दु नगण्य।
त्यो सुर-भोगो के समक्ष, अति तुच्छ भोग ये मानवजन्य ॥२३॥

कुशाग्र जल सम कामभोग हैं और आयु भी है अत्यल्प।
तो फिर योग-क्षेम को क्यो न जानता यह आश्चर्य अनल्प ॥२४॥

आठवाँ अध्ययन

कापिलीय

अति असार अध्रुव व अशाश्वत दुख प्रचुर इस ससृति मे।
ऐसा कर्म कौन-सा है? जिससे न पड़ूँ मैं दुर्गति मे ॥१॥

छोड पूर्व संयोगो को फिर से न कही पर स्नेह करे।
स्नेही मे जो अस्नेही होता वह दोष-प्रदोष परे ॥२॥

पूर्ण ज्ञान दर्शन युत, विगत मोह, सब प्राणी-हित-श्रेयार्थ।
मुनिवर कहने लगे, उन्हे अब सब कर्मों से विमोक्षणार्थ ॥३॥

सर्व ग्रन्थियाँ तजे, कलह भी, त्रायी भिक्षु तथा विध दीप्त।
सब भोगो मे दोष देखता हुआ न उनमे होता लिप्त ॥४॥

भोगामिष मे मग्न तथा हित-निश्रेयस् मे मति-विपरीत।
बाल, मूढ, वह मद, श्लेष्म मे मक्खी ज्यो फँसता अपुनीत ॥५॥

ये दुस्त्यज हैं काम, अधीर नरो द्वारा ये सुत्यज नही।
सुव्रत साधु वणिक् ज्यो, दुस्तर को तरते सुख पूर्वक ही ॥६॥

हम है श्रमण कई यो कहते पर न प्राणि-वध कटु फल-विज्ञ।
पाप दृष्टि से नरक सिधाते वे मृग, बाल, मद, अनभिज्ञ ॥७॥

प्राणी-वध अनुमोदक कभी न होता सब दुखो से मुक्त।
साधु-धर्म प्रज्ञप्त यही उन तीर्थंकरो द्वारा यो सूक्त ॥८॥

प्राणी वध न करे, जो वह कहलाता त्रायो, समित, सधीर।
उससे पाप अलग हो जाता ज्यो उन्नत स्थल पर स्थित नीर ॥९॥

लोकाश्रित त्रस स्थावर जो सब जीव यहाँ रहते सुख से।
दण्ड-प्रयोग न करे किसी पर तन, मन से अथवा मुख से ॥१०॥

शुद्ध एषणा जान उसी मे, करे भिक्षु निज को स्थापित।
रस-अलोल बन, ग्रास-एषणा करे स्व सयम पालन हित ॥११॥

नीरस, शीत, पिण्ड व पुरातन उड़द पुलाक व बुक्कस भोजन।
बदरी चुर्णादिक जीवन-यापन-हित सेवन करे तपोधन ॥१२॥

लक्षण, स्वप्न, अग, विद्यादिक का प्रयोग जो करे यहाँ।
वे न साधु कहलाते ऐसा आचार्यो ने स्पष्ट कहा ॥१३॥

जीवन अनियन्त्रित रख जो कि समाधि-योग से होते भ्रष्ट।
काम-भोग-रस-गृद्ध, असुर निकाय मे जाते, पाते कष्ट ॥१४॥

निकल वहाँ से जीव, बहुत फिर ससृति मे खाते चक्कर।
अतीव कर्म-लेप से लिप्त, उन्हे फिर बोधि महा दुष्कर ॥१५॥

अगर किसी को दे-दे कोई धन-पूरित यह लोक अशेष।
उससे भी न तृप्त होता आत्मा इतना दुष्पूर विशेष ॥१६॥

यथा लाभ है तथा लोभ है, लोभ लाभ से बढता जान।
वह द्विमाष-कृत कार्य न पूर्ण हुआ करोड से भी पहचान ॥१७॥

अनेक-चिन्ता, वक्ष कुचा, राक्षसी स्त्रियों मे गृद्ध न हो।
लुभा पुरुष को जो कि दास की भाँति नचाती उसे अहो ॥१८॥

स्त्री को तजनेवाला श्रमण न गृद्ध बने उनमे कब ही।
जान मनोज्ञ धर्म को, उसमे निज को स्थापित करे सही ॥१९॥

विशुद्ध प्रज्ञावान कपिल मुनि ने यह धर्म कहा सुखकर।
जो कि करेंगे इसे, तरेंगे, उभय लोक-आराधन कर ॥२०॥

नौवां अध्ययन

नमि प्रव्रज्या

च्युत हो देवलोक से मनुजलोक मे पैदा हुआ कृती ।
उपशान्त मोह था जिससे पूर्वजन्म की हुई स्मृति ॥१॥

जन्म याद कर स्वय बुद्ध उत्कृष्ट धर्म-हित हो तत्पर ।
सुत को राज्य-भार दे घर से निकला वह नमि राज-प्रवर ॥२॥

देवलोक सम अन्त पुर-गत वर, भोगो को भोग प्रवर ।
बोधि प्राप्त कर नमि, नृप ने, भोगो को छोड दिया सत्वर ॥३॥

पुरजन-पद सह मिथिला, सेना, अन्त पुर परिजन सब तजकर ।
अभिनिष्क्रमण किया नमि, नृप ने, बना विजनवासी वह नरवर ॥४॥

घर तजकर प्रव्रजित हो रहा था वह नमि राजर्षि यदा ।
मिथिला मे सर्वत्र बहुल कोलाहल होने लगा तदा ॥५॥

उत्तम दीक्षा-हित उद्यत राजर्षि-प्रवर से शक्र वहाँ ।
ब्राह्मण रूप धार आ, उसने इस प्रकार से स्पष्ट कहा ॥६॥

मिथिला नगरी के प्रासादो और गृहो मे हे अधिराज !
क्यो कोलाहल-सकुल दारुण शब्द सुनाई देते आज ॥७॥

सुनकर के यह अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
नमि राजर्षि प्रवर ने देवराज से फिर इस भाँति कहा ॥८॥

मिथिला मे शीतल छायावाला था चैत्य वृक्ष सुन्दर ।
पत्र, पुष्प, फल युत नित बहु विहगो का उपकारी, गुरुतर ॥९॥

एक दिवस वह वृक्ष मनोरम उखड़ गया मारुत से जब ।
दु खित अशरण आर्त्त विहग सब आक्रन्दन करते है अब ॥१०॥

इस प्रकार सुन अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
देवराज ने नमि राजर्षि-प्रवर से फिर इस भाँति कहा ॥११॥

यह पावक यह पवन आपका यह जल रहा विशाल भवन ।
अन्त पुर की ओर क्यो नही आप देखते है भगवन् ! ॥१२॥

सुनकर के यह अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
नमि राजर्षि-प्रवर ने देवराज से फिर इस भांति कहा ॥१३॥

सुख से रहते जीते है हम, जिनके पास न कुछ भी है।
मिथिला जलती है उसमे मेरा न जल रहा कुछ भी है ॥१४॥

सुत दारा से मुक्त भिक्षु फिर जो रहता है निर्व्यापार।
उसके लिए न कोई प्रिय-अप्रिय है, सम सारा ससार ॥१५॥

जो एकत्व-तत्त्वदर्शी फिर सब बन्धन से होता मुक्त।
गृह-त्यागी सुतपस्वी मुनि वह विपुल सुखो से होता युक्त ॥१६॥

इस प्रकार सुन अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
देवराज ने नमि राजर्षि-प्रवर से फिर इस भाति कहा ॥१७॥

पहले परकोटा, गोपुर, खाई व शतघ्नी बनाकर।
तदनन्तर तुम मुनि बन जाना कहना मानो क्षत्रियवर ! ॥१८॥

सुनकर के यह अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
नमि राजर्षि-प्रवर ने देवराज से फिर इस भांति कहा ॥१९॥

श्रद्धा नगर व क्षमा शतघ्नी तप सयम अर्गला बना।
मन वच काय गुप्ति-रक्षित दुर्जेय निपुण प्राकार बना ॥२०॥

धनुष पराक्रम रूप तथा ईर्य्या को उसकी डोर बना।
धृति को मूठ बना फिर उसे सत्य से बांधे महामना ॥२१॥

तप नाराच युक्त, फिर उससे कर्म-कवच को कर भेदन।
इस प्रकार कर अन्त युद्ध का, भव से होता मुक्त श्रमण ॥२२॥

इस प्रकार सुन अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
देवराज ने नमि राजर्षि-प्रवर से फिर इस भाति कहा ॥२३॥

पहले वर प्रासाद व वर्धमान गृह तथा चन्द्रशाला।
बनवाओ फिर हे क्षत्रियवर ! तुम मुनि बन जाना आला ॥२४॥

सुन करके यह अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
नमि राजर्षि-प्रवर ने देवराज से फिर इस भाँति कहा ॥२५॥

वह सदिग्ध वना रहता है जो कि बनाता पथ मे घर।
जहाँ कि जाना चाहे वही बनाए अपना घर बुध-वर ॥२६॥

इस प्रकार सुन अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
देवराज ने नमि राजर्षि-प्रवर से फिर इस भांति कहा ॥२७॥

प्राण लुटेरो, गिरहकटो, बटमारो, चोरो का निग्रह कर।
शांति स्थापना कर पुर मे फिर मुनि बन जाना हे क्षत्रियवर ! ॥२८॥

सुनकर के यह अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
नमि राजर्षि-प्रवर ने देवराज से फिर इस भाँति कहा ॥२९॥

मनुजो द्वारा बहुधा मिथ्या दण्ड प्रयोग किया जाता।
निर्दोषी पकडे जाते अपराधी छूट यहाँ जाता ॥३०॥

इस प्रकार सुन अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
देवराज ने नमि राजर्षि-प्रवर से फिर इस भाति कहा ॥३१॥

जो झुकते न आपके आगे उन राजाओ को नरवर !
अपने वश मे करके क्षत्रिय ! मुनि बन जाना तदनन्तर ॥३२॥

सुनकर के यह अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
नमि राजर्षि-प्रवर ने देवराज से फिर इस भाँति कहा ॥३३॥

दुर्जय सगर मे दश लाख भटो को जो लेता है जीत।
उससे भी उसकी है परम विजय जो खुद को लेता जीत ॥३४॥

आत्मा से ही कर संगर इन बाह्य रणो से है क्या लाभ ?
आत्मा से ही आत्म-विजय कर प्राणी पाता सुख अमिताभ॥३५॥

पाच इन्द्रिया क्रोध मान माया व लोभ मन हैं दुर्जय !
आत्म-विजय होने पर सर्व विजित हो जाते हैं यह ज्ञेय ॥३६॥

इस प्रकार सुन अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
देवराज ने नमि राजर्षि-प्रवर से फिर इस भाँति कहा ॥३७॥

प्रचुर यज्ञ कर श्रमण ब्राह्मणो को प्रिय भोजन खूब कराकर।
दान भोग कर यज्ञ विहित कर मुनि बन जाना फिर क्षत्रियवर ! ॥३८॥

सुनकर के यह अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
नमि राजर्षि-प्रवर ने देवराज से फिर इस भाँति कहा ॥३९॥

जो दश लाख धेनुओं का प्रति मास दान देता द्विज-शेखर।
उसके हित भी संयम ही शुभ है ले वह कुछ भी दे, नर ॥४०॥

इस प्रकार सुन अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
देवराज ने नमि राजर्षि-प्रवर से फिर इस भाँति कहा ॥४१॥

घोराश्रम को छोड अन्य आश्रम की इच्छा उचित नही है।
रहकर यही रक्त होओ पोषध मे, नरवर उचित यही है ॥४२॥

सुनकर के यह अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
नमि राजर्षि-प्रवर ने देवराज से फिर इस भाँति कहा ॥४३॥

जो कि बाल, मासानन्तर कुश अग्र मात्र भोजन करता है।
वह स्वाख्यात धर्म की कला षोडशी भी न प्राप्त करता है ॥४४।

इस प्रकार सुन अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
देवराज ने नमि राजर्षि-प्रवर से फिर इस भाँति कहा ॥४५॥

स्वर्ण रजत मणि- मुक्ता वसन कांस्य-पात्र वाहन भडार।
इनकी वृद्धि करो फिर मुनि बन जाना हे क्षत्रिय-शृगार ! ॥४६॥

सुनकर के यह अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
नमि राजर्षि-प्रवर ने देवराज से फिर इस भाँति कहा ॥४७॥

स्वर्ण रजत के गिरि असख्य कैलाश तुल्य हो लुब्धक-पास।
फिर भी तृप्त न होता इच्छा है अनन्त जैसे- आकाश ॥४८॥

भूमि, शालि, जौ, सोना, पशु ये सभी एक की यहा अरे !
इच्छा पूर्ति हेतु असमर्थ जान कर तप-आचरण करे ॥४९॥

इस प्रकार सुन अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
देवराज ने नमि राजर्षि-प्रवर से फिर इस भाँति कहा ॥५०॥

अभ्युदय बेला मे भोग छोड़ते हो नृप ! चित्र अमाप।
असत-काम की इच्छा से सकल्प प्रताडित होगे आप ॥५१॥

सुनकर के यह अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
नमि राजर्षि-प्रवर ने देवराज से फिर इस भाँति कहा ॥५२॥

शल्य तथा विष तुल्य काम है, आशीविष सम है यह काम।
विना भोग के चाह मात्र से ही नर पाते दुर्गति-धाम ॥५३॥

नीचे गिरता मनुज क्रोध से, मिले मान से अधम गति।
दभ, सुगति-नाशक व लोभ से उभय लोक मे भय-प्रगति ॥५४॥

ब्राह्मण रूप छोडकर इन्द्र रूप मे प्रकटित हो शकेन्द्र।
कर वदना मधुर शब्दो मे स्तवना करने लगा सरेन्द्र ॥५५॥

निर्जित किया क्रोध को अहो, मान को किया पराजित है।
अहो, निराकृत की माया को तेरे लोभ वशीकृत है ॥५६॥

अहो ! तुम्हारा आर्जव उत्तम, मार्दव तेरा अति उत्तम।
अहो ! क्षमा उत्तम है तेरी, लोभमुक्तता उत्तमतम ॥५७॥

यहाँ आप उत्तम हैं भगवन् ! आगे भी उत्तम होंगे।
नीरज बन लोकोत्तम सिद्धि-स्थल को शीघ्र प्राप्त होंगे ॥५८॥

यों उत्तम श्रद्धा से शक्र राज-ऋषि की स्तवना करता।
फिर प्रदक्षिणा करते हुए वन्दना पुन -पुन. करता ॥५६॥

चक्रांकुश लक्षण वाले मुनि के चरणो मे वह वन्दन कर।
ललित चपल कुडल व मुकुट धर इन्द्र गया नभ पथ से उड़कर ॥

साक्षात् शक्र प्रप्रेरित नमि ने नमा लिया निज आत्मा को अब।
सयम मे हो गए उपस्थित तजकर गृह पुर मिथिला को अब ॥६१॥

जो संबुद्ध विचक्षण पडित करते हैं वे इसी प्रकार।
भोगो से होते उपरत ज्यो नमि राजर्षि हुए अविकार ॥६२॥

दशवाँ अध्ययन

द्रुमपत्रक

पका हुआ तरु-पत्र ज्यो कि गिर जाता समय बीतने पर।
त्यो मनुजो का जीवन है, मत कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥१॥

ज्यो कुशाग्र-स्थित ओस-बिन्दु की स्वल्प काल स्थिति है सुन्दर।
त्यों मनुजो का जीवन है मत कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥२॥

स्वल्प आयु वाले जीवन मे बहुत विघ्न हैं अति दुखकर।
पूर्व कर्म-रज दूर हटा, मत कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥३॥

बहुत काल तक सभी प्राणियों को है नर-भव दुर्लभतर।
कर्म विपाक प्रगाढ़ जान मत कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥४॥

पृथ्वी कायोत्पन्न जीव अधिकाधिक रहता वहाँ अगर।
जान असख्य काल तक, अत न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥५॥

सलिल-काय-उत्पन्न जीव ज्यादा से ज्यादा रहे अगर।
जान असंख्य काल तक, अत. न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥६॥

अग्नि-काय-उत्पन्न जीव अधिकाधिक रहता वहाँ अगर।
जान असंख्य काल तक, अत. न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥७॥

वायु-काय-उत्पन्न जीव अधिकाधिक रहता वहाँ अगर।
जान असख्य काल तक, अत. न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥८॥

हरित-काय-उत्पन्न जीव अधिकाधिक रहता वहाँ अगर।
काल दुरन्त अनन्त जान, मत कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥९॥

द्वीन्द्रिय कायोत्पन्न जीव अधिकाधिक रहता वहां अगर।
वह संख्येय काल तक, अत. न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥१०॥

त्रीन्द्रिय कायोत्पन्न जीव अधिकाधिक रहता वहाँ अगर।
वह संख्येय काल तक, अत. न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥११॥

चतुरिन्द्रिय गत जीव वहां ज्यादा से ज्यादा रहे अगर।
वह संख्येय काल तक, अत. न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥१२॥

पचेन्द्रिय गत जीव वहाँ ज्यादा से ज्यादा रहे अगर ।
सात-आठ जन्मो तक, अत. न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥१३॥

देव-नरक-गति-गत प्राणी अधिकाधिक रहता वहाँ अगर ।
एक-एक भव ग्रहण मात्र, मत कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥१४॥

यों भव-ससृति मे सचरता कर्म शुभाशुभ सचित कर ।
जीव प्रमाद-वहुल है, अत न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥१५॥

पा मनुजत्व, तथा फिर आर्य देश का मिलना अति दुष्कर ।
वहु नर चोर म्लेच्छ है, अत. न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥१६॥

पा आर्यत्व तथा फिर अहीन पचेन्द्रियता दुर्लभतर ।
इन्द्रियहीन बहुत है, अत. न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥१७॥

अहीन पचेन्द्रियता पा फिर उत्तम धर्म-श्रवण दुष्कर ।
कुतीर्थि-सेवक बहु जन है, मत कर प्रमाद गौणम ! क्षण-भर ॥१८॥

उत्तम श्रुति मिलने पर भी श्रद्धा का होना दुर्लभतर ।
मिथ्यात्वोपासक जन है, मत कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥१९॥

धार्मिक श्रद्धा पा फिर धर्म निभानेवाले दुर्लभ नर ।
काम-गृद्ध बहु जन है, अत न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥२०॥

जीर्ण रहा तन तेरा फिर धवल हो रहे केश-निकर ।
वह घट रहा श्रोत्र-बल, अत न कर प्रमाद ! गौतम क्षण-भर ॥२१॥

जीर्ण हो रहा तन तेरा फिर धवल हो रहे केश-निकर ।
वह घट रहा चक्षु-बल अत, न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥२२॥

जीर्ण हो रहा तन तेरा फिर धवल हो रहे केश-निकर ।
वह घट रहा घ्राण बल, अत. न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥२३॥

जीर्ण हो रहा तन तेरा फिर धवल हो रहे केश-निकर ।
वह घट रहा जीभ-बल, अत न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥२४॥

जीर्ण हो रहा तन तेरा फिर धवल हो रहे केश-निकर ।
वह घट रहा स्पर्श-बल, अत न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥२५॥

जीर्ण हो रहा तन तेरा फिर धवल हो रहे केश-निकर ।
वह घट रहा, सर्व बल, अत. न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥२६॥

फोडा अरति अजीर्ण विविध आतङ्क स्पर्श करते स्फुटतर।
क्षीण नष्ट हो रहा गात्र, मत कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥२७॥

जल से अलिप्त शारद-कमल भाँति निज स्नेह भाव हर कर।
सर्व स्नेह-वर्जित होकर, मत कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥२८॥

तू अनगार-वृत्ति हित घर से निकला स्त्री-धन को तजकर।
वान्त भोग फिर से मत पी, मत कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥२९॥

जिन न दीखते आज, एकमत हैं न मार्ग-दर्शक जो नर।
सप्रति नैर्यातृक-पथ है, मत कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥३०॥

बान्धव मित्र विपुल सचित धन-राशि और सब कुछ तजकर।
फिर से इनकी खोज न कर, मत कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥३१॥

कंटकमय पथ छोड विशाल पथ मे आया है चलकर।
दृढ निश्चय से उस पर चल, मत कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥३२॥

अबल भारवाहक की भाँति चले जाना न विषम पथ पर।
विषम-पथिक पछताता, अत न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥३३॥

महा सिन्धु को तरकर फिर क्यो ठहर गया तट पर आकर।
पार गमन-हित जल्दी कर, मत कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥३४॥

हो आरूढ़ क्षपकश्रेणी पर पहुचेगा सिद्धि-स्थल पर।
जो शिव क्षेम अनुत्तर है, मत कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥३५॥

ग्राम नगर में तू सयत उपशान्त बुद्ध हो विचरण कर।
शान्ति मार्ग को बढा यहाँ, मत कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥३६॥

अर्थ व पद से शोभित सुकथित भगवद् वाणी को सुनकर।
राग-द्वेष को छेद, सिद्धि-गति प्राप्त हुए गौतम गणधर ॥३७॥

ग्यारहवाँ अध्ययन

बहुश्रुत पूजा

जो सयोग-मुक्त अणगार भिक्षु है उसका जो आचार ।
उसे कहूँगा क्रमश अब तुम मुझसे सुनो शिष्यो धर प्यार ॥१॥

स्तब्ध, लुब्ध, अजितेन्द्रिय, विद्याहीन, अविनयी, अति वाचाल ।
जो मानव होता है वह कहलाता है अबहुश्रुत, बाल ॥२॥

पाँच स्थान ये ऐसे है जिनसे शिक्षा न प्राप्त होती ।
क्रोध, मान, आलस्य, प्रमाद व रोग मद करता ज्योति ॥३॥

आठ स्थान ऐसे होते है जिनसे कहलाता मुनि शिक्षाशील ।
सदा दान्त फिर हास्य व मर्म-प्रकाशन न करे भिक्षाशील ॥४॥

तथा अशील विशील न हो अति लोलुप क्रोधी जो कि नही ।
सदा सत्य-रत जो होता कहलाता शिक्षाशील वही ॥५॥

इन चौदह स्थानो मे स्थित सयत कहलाता है अविनीत ।
वह निर्वाण न पा सकता जो विनय-धर्म से है विपरीत ॥६॥

बार-बार जो कुपित बने मुनि तथा करे फिर क्रोध-प्रबन्ध ।
मित्रभाव ठुकराता है जो श्रुत पाकर होता मद-अन्ध ॥७॥

पाप परिक्षेपी है फिर निज मित्रो पर भी करता क्रोध ।
इष्ट-मित्र की भी परोक्ष मे निन्दा करता नित्य अबोध ॥८॥

असबद्ध-भाषी, द्रोही, मानी, लोलुप, अजितेन्द्रिय ही ।
असविभागी, अप्रीतिकर, जो कहलाता अविनीत वही ॥९॥

इन पन्द्रह स्थानो से मुनि सुविनीत यहाँ पर कहलाता ।
नमनशील, अचपल, अकुतूहल, जो कि सरलता अपनाता ॥१०॥

तिरस्कार न करनेवाला, तथा न करता क्रोध-प्रबन्ध ।
जो कि मित्र के प्रति कृतज्ञ है, श्रुत पा जो न बने मद-अन्ध ॥११॥

कभी न पाप-परिक्षेपी हो, कुपित न हो जो मित्रो पर ।
अप्रिय जन का भी परोक्ष मे करे गुणानुवाद मुनिवर ॥१२॥

हाथापाई कलह-विवर्जक होता कुलीन लज्जावान ।
प्रतिसलीन व बुद्धिमान कहलाता वह विनयी गुणवान ॥१३॥

गुरुकुल मे बसनेवाला उपधान-समाधिवान मतिमान ।
प्रियवादी व प्रियकर मुनि करता है शिक्षा प्राप्त महान ॥१४॥

धवल शख स्थित दुग्ध उभयतः ज्यों लगता है अति सुन्दर ।
कीर्ति धर्म-श्रुत से त्यो शोभान्वित होता बहुश्रुत मुनिवर ॥१५॥

वेग तथा शीलादि गुणों से कबोजी कथक हयवर ।
ज्यो शोभान्वित होता त्यो शोभित होता बहुश्रुत मुनिवर ॥१६॥

नन्दिघोष से युक्त उभयतः चढा हुआ उत्तम हयपर ।
पराक्रमी भट ज्यो अजेय होता है त्यो बहुश्रुत मुनिवर ॥१७॥

साठ वर्ष का अति बलवान हथिनियो से परिवृत कुजर ।
अपराजित होता है उसी भाँति अपराजित बहुश्रुत नर ॥१८॥

तीक्ष्ण श्रृंग, अति पुष्ट स्कन्ध वाला यूथाधिप वृषभ-प्रवर ।
शोभित होता है त्यो बहुश्रुत भी बनकर आचार्य-प्रवर ॥१९॥

पूर्ण युवा, दुर्जेय तीक्ष्ण दाढोवाला हरि पशुओ मे ज्यो ।
सर्वश्रेष्ठ होता है बहुश्रुत मुनि भी अन्य तीर्थिको मे त्यो ॥२०॥

अप्रतिहत बल योद्धा शख चक्र व गदा धारक नटवर ।
वासुदेव होता है उसी भाँति होता बहुश्रुत मुनिवर ॥२१॥

महा ऋद्धिशाली चतुरन्त चतुर्दश रत्नाधिप चक्रीश्वर ।
होता है त्यो पूर्व चतुर्दश धारी होता बहुश्रुत मुनिवर ॥२२॥

सहस्रचक्षु पुरन्दर शक्र वज्रपाणी देवाधिप्रवर ।
होता है त्यों ही दैवी सपदाधिपति बहुश्रुत मुनिवर ॥२३॥

तिमिरविनाशक उगता हुआ तेज-सदीप्त यथा दिनकर ।
होता है त्यों ही तप द्वारा तेजस्वी बहुश्रुत मुनिवर ॥२४॥

ग्रहपति चन्द्र पूर्णिमा को नक्षत्र-निकर परिवृत्त परिपूर्ण ।
होता है त्यो बहुश्रुत मुनि भी सर्व कलाओ से परिपूर्ण ॥२५॥

सामाजिक जन का ज्यो कोष्ठागार विविध धान्यो से पूर्ण ।
ज्यो कि सुरक्षित होता त्यो बहुश्रुत विविध ज्ञान से पूर्ण ॥२६॥

तरु सुदर्शना नामक जम्बू देव अनादृत का आश्रय जो ।
सब तरुओ मे ज्योकि श्रेष्ठ है, बहुश्रुत भी सब मुनियों मे त्यो ॥२७॥

नीलवन्त से निकल सिन्धु मे मिलनेवाली नदी प्रवर ।
सब नदियो मे सीता ज्योकि श्रेष्ठ है त्यो बहुश्रुत मुनिवर ॥२८॥

नाना औषधि दीप्त तथा अतिशय महान गिरि है मंदर ।
सब गिरियो मे उत्तम त्यो सब मुनियो मे बहुश्रुत मुनिवर ॥२९॥

नाना रत्नो से परिपूर्ण स्वयभूरमण नाम सागर ।
उदधि-श्रेष्ठ अक्षय-जल है त्यो अक्षय श्रुत से बहुश्रुत-धर ॥३०॥

अपराजेय, दुरासद, त्राता, अभय व सिन्धुतुल्य गम्भीर ।
विपुल ज्ञान से पूर्ण खपा कर्मों को गए मोक्ष मे धीर ॥३१॥

उत्तम अर्थ-गवेषक श्रुत को करे आश्रयण अत. उम्र-भर ।
जिससे निज-पर को वह सिद्धि-प्राप्ति झट करा सके बहुश्रुत-धर ॥३२॥

बारहवाँ अध्ययन

हरिकेशबल

श्वपाक-कुल सभूत, जितेन्द्रिय, उत्तम गुणधर मुनिवर एक ।
हरिकेशवल नामका भिक्षु, जिसे था धर्माधर्म विवेक ॥१॥

ईर्या भाषैणाऽऽदान निक्षेपोच्चार समितियो में ।
सावधान था सयत सुसमाहित था नामी यतियो मे ॥२॥

मन वच काया से वह गुप्त जितेन्द्रिय था फिर पूर्णतया ।
विप्र यज्ञ-मंडप मे भिक्षा लेने हित एकदा गया ॥३॥

जीर्ण उपधि-उपकरण तथा तप से परिशोषित तनवाले ।
मुनि को आते देख, हास्य करते अनार्य द्विज मतवाले ॥४॥

जाति-दर्प से मत्त तथा फिर हिंसक अजितेन्द्रिय वे बाल ।
ब्रह्मचर्य से रहित अज्ञ यो बकने लगे विप्र पपाल ॥५॥

बडी नाक, अधनगा, काला, पाशु-पिशाच रूप विकराल ।
चिथड़ा डाल गले मे कौन आ रहा है वह नर-कंकाल ?॥६॥

अदर्शनीय अधनगे पांशु-पिशाच सदृश तू कौन अहा !
किस आशा से आया अरे ! चला जा फिर क्यो खड़ा यहाँ ॥७॥

उस महर्षि का अनुकम्पक तिंदुक-तरु वासी यक्ष तदा ।
मुनि के तन मे छिपा स्व-तन को फिर यो कहने लगा मुदा ॥८॥

श्रमण ब्रह्मचारी सयत, धन-पचन-परिग्रह-निवृ त हू ।
भिक्षा-समय सहज-निष्पन्न अशन-हित यहाँ उपस्थित हू ॥९॥

खाया भोगा वितरित किया जा रहा प्रभूत अन्न यहा पर ।
भिक्षाजीवी जान तपस्वी को मिल जाए बचा-खुचा फिर ॥१०॥

जो कि एक पाक्षिक यह भोजन बना सिर्फ विप्रो के खातिर ।
ऐसा अन्न-पान हम तुम्हे न देगे, यहाँ खड़े हो क्यो फिर ?॥११॥

उच्च-निम्न स्थल मे आशा से ज्यो बोते है बीज कृषक जन ।
इसी भावना से दो मुझे क्षेत्र है करो पुण्य-आराधन ॥१२॥

जहाँ बीज सारे उग जाते वे सब क्षेत्र हमें हैं ज्ञात ।
विद्या-जाति युक्त द्विज ही है पुण्य-क्षेत्र जग मे साक्षात ॥१३॥

क्रोध मान वध मृषा अदत्त परिग्रह से होते संश्लिष्ट ।
विद्या-जाति विहीन विप्र वे पाप-क्षेत्र ही है अपकृष्ट ॥१४॥

वेदो को पढ अर्थ-अज्ञ तुम सिर्फ गिरा का ढोते भार ।
उच्चावच कुल गमनशील मुनि ही हैं पुण्य-क्षेत्र जग सार ॥१५॥

अध्यापक-गण के विरुद्ध, हम सब के सम्मुख बकता स्पष्ट ।
तुझे न देंगे अन्न-सलिल यह चाहे हों जाये सब नष्ट ॥१६॥

समित-समाहित गुप्ति-गुप्त दमितेन्द्रिय मुझको यह अनवद्य ।
अशन न दोगे तो यज्ञो का लाभ तुम्हे क्या होगा अद्य ? ॥१७॥

उपज्योतिष, अध्यापक, क्षत्र-छात्र कोई है यहाँ अरे ।
कंठ पकड़ कर, दड-फलक से मार हटाए इसे परे ॥१८॥

सुन अध्यापक वचन बहुत से दौडे उधर कुमार सजोश ।
दंड, बत, चाबुक से ऋषि को लगे पीटने छात्र सरोष ॥१९॥

भूप कौशलिक की वर-पुत्री भद्रा हन्यमान मुनिको तब ।
देख, शान्त वह करने लगी वहाँ उन क्रुद्ध कुमारो को अब ॥२०॥

देव-प्रेरणा से नृप द्वारा मैं दी गई किन्तु इस ऋषि ने ।
मुझे न चाहा नृप-सुर-इन्द्र-पूज्य है मुझको छोडा जिसने ॥२१॥

उग्र तपस्वी दान्त महात्मा ब्रह्मचर्यधारी सयत ने ।
स्वयं कौशलिक पितु द्वारा देने पर मुझे न चाहा इसने ॥२२॥

महानुभाग महायश घोर पराक्रम व्रतधर मुनि अहील की ।
करो न हीला कही तेज से दहे न तुमको यह अपील की ॥२३॥

वचन सुभाषित पत्नी भद्रा के सुनकर यक्षो ने सत्वर ।
ऋषि-सेवा के लिए कुमारो को तब गिरा दिया है भू पर ॥२४॥

लगे मारने छात्रो को अब, यक्ष नभस्थित घोर रूप धर ।
रुधिर वमन करते क्षत-विक्षत उन्हे देख भद्रा बोली फिर ॥२५॥

जो अपमान भिक्षु का करते वे नख से गिरि खोद रहे हैं ।
अग्नि बुझाते पैरो से दांतों से लोहा चबा रहे हैं ॥२६॥

उग्र तपस्वी आशीविष ऋषि घोर-पराक्रम-व्रत-अवदात ।
अशन समय ऋषि का वध, शिखि में ज्योंकि शलभ-बलभंपापात ।।२७।।

जीवन-धन-इच्छुक हो यदि तुम तो सब मिल नत-मस्तक बनकर ।
शरण ग्रहो वरना क्रोधित यह विश्व-दहन कर सकता मुनिवर ।।२८।।

पृष्ठ भाग की ओर झुके सिर, बाहु प्रसारित हैं निष्क्रिय सब ।
फटे नेत्र मुख ऊर्ध्व, रुधिर बहता, जिह्वा आँखे निकली अब ।।२९।।

काष्ठभूत लख छात्रो को, स्त्री-सह सविषाद विप्र कहता यो ।
भगवन्, हीलादिक को क्षमा करे, प्रसन्न ऋषि को करता यो ।।३०।।

मूढ अज्ञ शिशुओ ने जो हीला की उसे करें अब माफ ।
महाप्रसन्न चित्त ऋषि होते हैं कोप न करते भगवन् ! आप ।।३१।।

मेरे मन मे द्वेष न था, न अभी है, होगा फिर न कभी ।
सेवा करते यक्ष अत ये हुए प्रताडित छात्र सभी ।।३२।।

अर्थ-धर्म ज्ञाता है भूति-प्रज्ञ हैं कोप न करते आप ।
अतः आपके चरणो की ले रहे शरण सब मिल चुपचाप ।।३३।।

अर्चा करते है हम तेरी, तेरे सब कुछ अर्च्य यहाँ पर ।
महाभाग ! नाना व्यंजन-युत अशन शालिमद् खाओ लेकर ।।३४।।

प्रचुर अन्न मे से कुछ खाओ अनुग्रहीत करने-हित इसको ।
हाँ भर ली मासिक तप का पारणा किया, ले अशन-सलिल को ।।३५।।

सलिल-सुगधित, पुष्प, दिव्यधन की वर्षा देवो ने की फिर ।
अहोदान का घोष किया, दुन्दुभि बजाई नभस्थित होकर ।।३६।।

तप की महिमा दीख रही प्रत्यक्ष जाति वैशिष्ट्य न कुछ है ।
श्वपाक सुत हरिकेश भिक्षु की ऐसी महाऋद्धि सचमुच है ।।३७।।

शिखि-आरम्भ व जल से बाह्य शुद्धि क्या माग रहे हो सद्य ।
विप्रो ! उसे न सम्यग्दर्शन कहते कुशल लोग अनवद्य ।।३८।।

दर्भ, यूप, तृण, काष्ठ, अग्नि, जल-स्पर्श सुवह-साय करते हो ।
प्राणभूत वधकर तुम मदबुद्धि अघ पुनः-पुनः करते हो ।।३९।।

यज्ञ करे कैसे प्रवृत्त हो ? जिससे नष्ट कर सकें पाप ।
यक्ष-पूज्य ! सयत ! बतलाए कुशल-सुइष्ट यज्ञ का माप ।।४०।।

मृषा अदत्त छोडकर षट्कायिक जीवो का वध तज शान्त ।
परिग्रह, स्त्री, दर्प व माया छोड विचरते दान्त नितान्त ॥४१॥

पांच सवरो से संवृत्त शुचि फिर जीवन काक्षा परिहरता ।
त्यक्त-देह, व्युत्सृष्ट-काय, वर यज्ञ महाविजयी वह करता ॥४२॥

अग्नि कौन-सी, स्थान व कडछी कंडा ईंधन यहा कौन-सा ?
किस सु-हवन से शिखि-हुत करते शान्तिपाठ फिर भिक्षु कौन-सा? ॥४३॥

तप शिखि, जीव स्थान, शुभ योग कडछियाँ, तन कडे, कर्मेधन ।
सयम शान्तिपाठ मे करता ऋषिप्रशस्त यह होम शुद्ध मन ॥४४॥

नद कौन-सा व शान्तितीर्थ फिर, अघरज धोते कहाँ स्नान कर ? ।
तुझसे हम जानना चाहते कहो यक्ष-पूजित सयतवर ॥४५॥

अकलुष-आत्म-प्रसन्न भाव, धर्म-द्रह शान्तितीर्थ ब्रह्मव्रत ।
जहाँ स्नान कर शुद्ध विमल शीतल हो, मैं अघ हरता संतत ॥४६॥

कुशल-दृष्ट यह महा-स्नान है, ऋषियो के हित यह प्रशस्ततर ।
विमल शुद्ध उत्तम स्थल प्राप्त हुए महर्षिगण इसमे न्हाकर ॥४७॥

तेरहवाँ अध्ययन

चित्तसंभूत

जाति पराजित होकर निश्चित निदान कर हस्तिनानगर मे ।
पद्म-गुल्म से च्यव कर उपजा, ब्रह्मदत्त चूलनी उदर मे ।।१।।

कपिलपुर मे जन्मा है सभूत व पुरिमताल मे चित्र ।
विशाल श्रेष्ठी सुकुल मे, फिर सुन धर्म हुआ, प्रव्रजित पवित्र ।।२।।

कंपिलपुर मे हुए इकट्ठे चित्त तथा संभूत उभय जन ।
सुख-दुख कर्म-विपाक परस्पर कहने लगे वहाँ निर्भय बन ।।३।।

महा-ऋद्धि धर महा यशस्वी ब्रह्मदत्त चक्री नर देव ।
अति सम्मान पुरस्सर निज भाई से यो बोला स्वयमेव ।।४।।

हम दोनो भाई अन्योन्य वशानुग अनन्य प्रेमी थे ।
सुखपूर्वक रहते थे तथा परस्पर बड़े हितैषी थे ।।५।।

हम दशार्ण मे दास हुए फिर कालिंजर गिरि पर मृग बाल ।
मृत गगा तट पर हम हंस हुए फिर काशी मे चाण्डाल ।।६।।

फिर हम दोनो देवलोक मे हुए महर्द्धिक देव सुभग हैं ।
एक दूसरे से यह छट्ठा जन्म हमारा हुआ अलग है ।।७।।

विषयो का चिन्तन कर राजन् ! तुमने किया निदान-प्रयोग ।
उस कर्मोदय विपाक से यह हम दोनो का हुआ वियोग ।।८।।

पूर्व जन्म मे सत्य शौचमय कर्म किए जिनका फल सद्य ।
भोग रहा मैं, चित्त ! तुम्ही क्या भोग रहे वैसा फल अद्य ? ।।९।।

सभी सुचीर्ण सफल होता विन भोगे जीव न होता मुक्त ।
उत्तम अर्थ-काम द्वारा मैं, पुण्य फलो से था सयुक्त ।।१०।।

महानुभाग महर्द्धिक पुण्यवान् सभूत ! समझता निज को ।
वैसा ही तू महाविपुल द्युति-ऋद्धिमान पहचान चित्र को ।।११।।

महा अर्थ अल्पाक्षर वाली गाथा जन-समूह मे सुनकर ।
मुनि अर्जित करते हैं यत्न से, जिसे श्रवण कर बना श्रमणवर ।।१२।।

उच्चोदय मधु कर्क मध्य ब्रह्मा व अन्य प्रासाद-सुयोग ।
धन पूरित, पाचाल वस्तुओ युत, उस घर का कर उपभोग ॥१३॥

नाट्य, गीत, वाद्यो सह नारीजन-परिवृत हो भोगो भोग ।
यह रुचता है मुझे वस्तुतः, दुखकर दीक्षा का दुर्योग ॥१४॥

पूर्व स्नेह वश अनुरागी फिर काम गुणानुरक्त नृपवर से ।
हितानुप्रेक्षी धर्मस्थित मुनि चित्र ने वचन कहा यो फिर से ॥१५॥

गीत विलाप रूप हैं, सब नाटक विडम्बना रूप कहा ।
आभूषण हैं भारभूत, सब कामभोग हैं दुखावहा ॥१६॥

काम-विरत व तपोधन शील-रक्त मुनि को सुख मिलता जैसा ।
दुखद काम ये बाल-प्रिय हैं इनमे सौख्य न मिलता वैसा ॥१७॥

मनुजो मे जो अधम श्वपाक जाति मे पैदा हुए उभय हम ।
सबके द्वेष-पात्र बन रहते थे श्वपाक बस्ती मे नृप ! हम ॥१८॥

कुत्सित कुल मे जन्म लिया चाडाल बस्ती मे रहे विकल है ।
सभी घृणा करते थे, यहा उच्चता श्रेष्ठ पूर्वकृत फल हैं ॥१९॥

महानुभाग महर्द्धिक वही बना अब राजा पुण्य सहित तू ।
छोड़ अशाश्वत भोग निकल घर से सयम-आराधन-हित तू ॥२०॥

नाशवान इस जीवन मे अतिशय शुभ कर्म न जो करता है ।
अविहित-धर्मा मृत्यु-मुख स्थित अत्र-परत्र शोक धरता है ॥२१॥

यथा सिंह मृग को त्यो मृत्यु पकड ले जाती नर को आखिर ।
माता-पिता-भाई उसके होते न अशधर मृत्यु-समय फिर ॥२२॥

ज्ञाति, मित्र, सुत, बान्धव उसके दुख को बँटा न सकते तिलभर ।
स्वय अकेला दुख अनुभवता, क्योकि कर्म कर्त्ता का अनुचर ॥२३॥

द्विपद, चतुष्पद, क्षेत्र, गेह, धन, धान्य विवश वह छोड सिधाता ।
निजकृत कर्मो को ले साथ सुखद-दुखद परभव मे जाता ॥२४॥

उस निःसार अकेले तन को चिति मे शिखि से शीघ्र जलाकर ।
स्त्री सुत परिजन किसी अन्य दाता के पीछे हो जाते फिर ॥२५॥

सजग कर्म, जीवन को मृत्यु-निकट ले जाते, जरा वर्ण को ।
हरती, नृप पांचाल ! वचन सुन मेरा, मत कर प्रचुर कर्म को ॥२६॥

आर्य ! वचन जो कहता मुझसे मैं भी उसे जानता श्रेय ।
भोग सगकर है, पर मेरे जैसो-हित ये हैं दुर्जेय ।।२७।।

चित्र ! हस्तिनापुर मे देख चक्रवर्ती अति ऋद्धि-निधान ।
भोगो मे हो गृद्ध वहाँ मैंने कर डाला अशुभ निदान ।।२८।।

उसका प्रायश्चित्त न किया उसी का यह ऐसा है कटु फल ।
श्रेष्ठ धर्म को हुआ जानता, भोगो मे मूर्च्छित हूँ प्रतिपल ।।२९।।

हुआ देखता स्थल को पंकमग्न गज पहुँच न पाता तट पर ।
काम-गृद्ध हम मुनि पथ का अनुशरण न कर पाते है क्षण-भर ।।३०।।

रात्रि-दिवस ये शीघ्र जा रहे मनुज भोग ये नित्य न राजन् !
प्राप्त भोग नरको तजते हैं ज्योकि क्षीणफल तरु को खगगण ।।३१।।

भोग त्यागने मे अशक्त यदि है तो राजन् आर्य कर्म कर ।
प्रजानुकम्पी धर्मस्थित बन जिससे होगा वैक्रेयिक सुर ।।३२।।

भोग-त्याग की बुद्धि न तेरी अति आरभ परिग्रह मे रत ।
सबोधित कर मैंने व्यर्थ प्रलाप किया नृप ! जाता हूँ झट ।।३३।।

ब्रह्मदत्त पांचाल भूप मुनि के वचनो को नही मानकर ।
भोग अनुत्तर भोगो को वह नरक अनुत्तर पहुँचा मरकर ।।३४।।

विरत कामना से, उत्कृष्ट चरण तप सयम का पालन कर ।
परम सिद्धिगति में वह पहुँचा चित्त महर्षि महागुण गह्वर ।।३५।।

चौदहवाँ अध्ययन

इषुकारीय

पूर्व जन्म मे सुर हो एक यान से च्युत हो कई सिधाए ।
ख्यात पुराण समृद्ध स्वर्गसम, वर इषुकार नगर मे आए ॥१॥

पूर्व विहित अवशिष्ट कर्म से वर कुल मे उत्पन्न हुए सब ।
ससृति भय से खिन्न, भोग तज जिन-पथ शरणापन्न हुए सब ॥२॥

तत्र पुरोहित पत्नी यशा तथा फिर उभय कुमार मनस्वी ।
देवी कमलावती सुशीला नृप इषुकार विशाल यशस्वी ॥३॥

चित्त मोक्ष की ओर खिच गया, जन्म-मृत्यु-भय त्रस्त हो गए ।
लख मुनि को भव-चक्र छेदने हित वे काम-विरक्त हो गए ॥४॥

स्वकर्मशील पुरोहित के प्रिय उभय सुतो को जातिस्मरण तब ।
हुआ कि जिससे पूर्वाराधित तप सयम को किया स्मरण तब ॥५॥

मनुज देव यौनिक भोगो से विरत हुए वे दृढ श्रद्धालु ।
मोक्षाकाक्षी तात-निकट आकर यो कहने लगे कृपालु ॥६॥

तात ! अशाश्वत जीवन, स्वल्प आयु जिसमे बहु विघ्न अनवरत ।
है न गेह मे सौख्य, अत. मुनि बनने हित चाहते इजाजत ॥७॥

उन मुनियो से कहने लगा तात यो वचन तपस्या घातक ।
असुतो की होती न सुगति यो वेद-विज्ञ कहते हैं स्नातक ॥८॥

वेद पाठकर ब्रह्म भोज कर नारीगण सह भोग भोग कर ।
पुत्रो को घर-भार सौप कर फिर बनना वनवासी मुनिवर ॥९॥

आत्म-गुणेन्धन मोहानिल से शोक अग्नि प्रज्वलित अधिक है ।
तप्तभाव, फिर छिन्न हो रहा सुत-वियोग से हृदय अधिक है ॥१०॥

क्रमश धन भोगो हित अनुनय करते हुए पुरोहित से ।
चिन्तनपूर्वक उभय कुमारो ने ये वाक्य, कहे उससे ॥११॥

भोजित विप्र नरक ले जाते, अधीत वेद न होते त्राण ।
कथन आपका कौन मानता ? जब कि न सुत भी होते त्राण ॥१२॥

क्षणिक मात्र सुख, बहुत काल दुख, सुख स्वल्पमान है।
संसृति-मोक्ष विपक्ष भूत ये निश्चित भोग अनर्थ खान है ॥१३॥

काम-अनुपरत मनुज रात-दिन, हो संतप्त भ्रमण करता है।
बन प्रमत्त, पर-हित धन खोज-रक्त वह जरा-मरण वरता है ॥१४॥

यह न पास मेरे है, यह है, यह करना व न करना ऐसे।
बकते नर को हरता काल, प्रमाद किया जाए फिर कैसे ?॥१५॥

नारीजन सह प्रभूत धन है स्वजन कामगुण भी पर्याप्त।
जिसके खातिर तप करते नर वे सब स्ववश तुम्हे है प्राप्त ॥१६॥

धर्म-धुरा वहने मे भोग स्वजन धन से क्या है मतलब ?
भिक्षाजीवी अप्रतिबन्ध श्रमण गुणवान बनेंगे अब ॥१७॥

यथा अरणि मे अग्नि, दुग्ध मे घृत व तिलो मे तेल असत है।
त्यो तन में ये जीव, पुत्र! तन साथ नष्ट होते, अवितथ है ॥१८॥

नित्य अमूर्त-भाव होने से इन्द्रिय-ग्राह्य न जीव रहा है।
बन्ध हेतु आश्रव है, ससृति का कारण फिर बन्ध कहा है ॥१९॥

धर्म अज्ञ अवरुध्यमान रक्षित हम मोह वशंगत होकर।
करते रहे पाप अब तक, पर अब न करेगे निज खोकर ॥२०॥

पीडित है यह लोक सर्वतः घिरा हुआ चौतर्फ दुख है।
वह आ रही अमोघा, ऐसी स्थिति में घर पर हमे न सुख है ॥२१॥

किससे पीडित है फिर किससे घिरा हुआ है यह ससार।
किसे कहा है यहाँ अमोघा ? पुत्रो! चिन्ता मुझे अपार ॥२२॥

मृत्यु-प्रपीडित तथा जरा से घिरा हुआ इस जग को जानें।
यहाँ रात्रि को कहा अमोघा, तात! आप इस प्रकार मानें ॥२३॥

जो-जो रात्रि चली जाती है नही लौट कर वह आती है।
अधर्म करने वाले नर की विफल रात्रियाँ हो जाती हैं ॥२४॥

जो-जो रात्रि चली जाती है नही लौट कर वह आती है।
धर्म रक्त रहने वाले की सफल रात्रियाँ हो जाती हैं ॥२५॥

पहले घर पर ही सम्यक्त्व और श्रावक व्रत पालन कर।
फिर हम सब दीक्षा लेकर भिक्षा-हित जायेंगे घर-घर ॥२६॥

जिसकी मैत्री हो कृतान्त से शीघ्र पलायन जो कर सकता ।
जोकि जानता मैं न मरूँगा, वह कल की आशा धर सकता ॥२७॥

है न अनागत कुछ भी मुनिव्रत आज ले रहे हैं हम जिससे ।
श्रद्धाक्षम हो राग छोड़कर जन्म न लेना पड़े कि फिर से ॥२८॥

मुनि बनने का समय आ गया, सुत बिन घर रहना न ठीक है ।
तरु की शोभा शाखाओ से, उनके बिन वाशिष्ठि ! ठूँठ है ॥२९॥

पखहीन ज्यो विहग तथा रण मे बलहीन भूपति जैसा ।
वित्तहीन ज्यो पोत वणिक्, सुतहीन हो गया हूँ मैं वैसा ॥३०॥

रस प्रधान सुसभृत भोग यथेष्ट मिले है तुम्हे प्रचुरतम ।
उन्हे खूब भोगें पहले, फिर प्रधान पथ को चुन लेंगे हम ॥३१॥

भोग चुके रस वय भी तजता, जीवन-हित न छोड़ता भोग ।
सम्यग सुख-दुख लाभ-अलाभ देख, स्वीकार करूँगा योग ॥३२॥

प्रतिस्रोत-गत जीर्ण हस ज्यो बन्धुजनो की स्मृति न सताए ।
अतः भोग भोगो मेरे सह, भिक्षाचर्या दुखद कहाए ॥३३॥

सर्प केचुली को तज मुक्त भाग जाता त्यो भोग छोडकर ।
सुत जाते हैं, क्यो न साथ हो लू, क्यो रहूं अकेला घरपर ? ॥३४॥

अबल जाल को रोहित मत्स्य काटता झट, त्यो तज भोगो को ।
धोरी, धीर, प्रधान तपस्वी, स्वीकरते भिक्षाचर्या को ॥३५॥

क्रौंच हंस ज्यों विस्तृत जाल छेद उड जाते त्यो सुत पतिवर ।
जाते हैं तो क्यो न साथ हो लू क्यों रहूँ अकेली घरपर ? ॥३६॥

स-सुत स-दार पुरोहित भोग छोड़ दीक्षित हो गये निसुन अब ।
नृप को विपुल वित्तग्राही लख, रानी पुनः-पुनः कहती तब ॥३७॥

वान्ताशी नर नही प्रशसा पाता ऐसा स्पष्ट ज्ञात है ।
विप्रत्यक्त धन पाने की इच्छा रखते हो बुरी बात है ॥३८॥

सारा विश्व तथा सारा धन तेरे वश हो जाए फिर भी ।
वह पर्याप्त न होगा, तेरी रक्षा कर सकता न कभी भी ॥३९॥

यदा मरोगे तदा रम्य भोगो को तजना होगा भूप ! ।
त्राणभत है एक धर्म ही अन्य न कोई त्राणस्वरूप ॥४०॥

पजर-स्थित विहगी ज्यो मुझे न सुख है अत स्नेह को तजकर
मुनिव्रत लूंगी सरल अकिंचन निरारंभ व निरामिष वनकर ।।४१।।

ज्यो दवाग्नि से वन मे जलते हुए जन्तुओ को सपेख ।
राग दोष वश अन्य जन्तु गण प्रमुदित होते उनको देख ।।४२।।

त्यो हम कामभोग मूर्च्छित बन मूढ अज्ञ इतना न समझते ।
रागद्वेष अग्नि मे सारा विश्व जल रहा किन्तु न लखते ।।४३।।

वर भोगो को भोग, उन्हे तज अप्रतिबन्ध पवन ज्यो फिर ।
वे प्रसन्नता पूर्वक विहगो-भांति स्वतन्त्र विचरते चिर ।।४४।।

भोग हस्तगत इन्हे सुरक्षित रखने पर भी है चचलतर ।
भोग-गृद्ध हम आर्य ! किन्तु वैसे होंगे जैसे भृगु-परिकर ।।४५।।

आमिष सहित गीध पर विहग झपटते, न निरामिष पर देख ।
आमिष को अब छोड़ निरामिष होकर विचरूँगी सविवेक ।।४६।।

गृध्रोपम ससृतिवर्धक इन भोगों को मानव पहचान ।
गरुड़-समीप साँप ज्यो इनसे शंकित होकर चले सुजान ।।४७।।

ज्यो हाथी बन्धन को तोड चला जाता स्वस्थान, तथ्य है ।
नृप इषुकार हमे त्यो शिव मे जाना है यह सुना पथ्य है ।।४८।।

राजा-रानी विपुल राज्य फिर दुष्त्यज भोगों को झट छोड़ ।
निर्विषयी निःस्नेह निरामिष निष्परिग्रही हुए सिरमोर ।।४९।।

सम्यग् ज्ञान धर्म को वे तज आकर्षक सब भोग-विलास ।
यथाख्यात तप घोर ग्रहण कर, करते घोर पराक्रम खास ।।५०।।

यो क्रमशः वे होकर बुद्ध व धर्मपरायण बने सभी ।
जन्म-मरण भय से उद्विग्न, दुखान्त-खोज मे लगे सभी ।।५१।।

वीतराग शासन मे पूर्व भावना से भावित होकर ।
स्वल्पकाल मे ही दुखमुक्त बने हैं सब अघ-मल धोकर ।।५२।।

राजा राणी विप्र पुरोहित तथा ब्राह्मणी दोनों पुत्र ।
छहो जीव परिनिर्वृत हुए यहां ऐसा यह कहता सूत्र ।।५३।।

पन्द्रहवाँ अध्ययन

सभिक्षु

धर्म धार मुनिव्रत लूगा, अनिदान, सहित, जो ऋजुकृत ही
परिचय विषय-कामना त्यागी, अज्ञातैषी भिक्षु वही ॥१॥

निशि-अविहारी भिक्षाजीवी आगम-विद् निज रक्षक ही।
समदर्शी जित्-परिषह प्राज्ञ, न कही गृद्ध हो भिक्षु वही ॥२॥

वध, कटु वच को जान कर्मफल, धीर, श्रेष्ठ, सवृत नित ही।
हर्ष, विषाद-रहित हो सब कुछ जो सहता है भिक्षु वही ॥३॥

मिले प्रान्त शयनासन, दंश-मशक-शीतोष्ण त्रास कब ही।
सह कर भी जो हर्ष विषाद रहित होता है, भिक्षु वही ॥४॥

जो वन्दन-पूजा-सत्कार-प्रशसा कामी बने नही।
सयत, सुव्रत, आत्म-गवेषक, सहित, तपस्वी भिक्षु वही ॥५॥

सयम जाए छूट, मोह बँध जाए मिलन-मात्र से ही।
उस स्त्री, नर का सग, कुतूहल तजे तपस्वी भिक्षु वही ॥६॥

छिन्न, दड, स्वर, गगन, अग, लक्षण व स्वप्न, भू, वास्तु कही।
स्वर विज्ञानादिक से जीवन-यापन न करे भिक्षु वही ॥७॥

वमन, विरेचन, स्नान वैद्यचिन्ता व मत्र मूलादिक ही।
आतुर-शरण, धूमनेत्रादि चिकित्सा छोड़े भिक्षु वही ॥८॥

क्षत्रिय, राजपुत्र, गण, विप्र, उग्र, भौगिक या शिल्पिक ही।
दोष जानकर इनकी पूजा श्लाघा न करे भिक्षु वही ॥९॥

दीक्षा के पहले या पीछे जो परिचित है गृहिजन ही।
इहलौकिक फल हित उनका परिचय न करे जो भिक्षु वही ॥१०॥

शयनासन, भोजन, जल, खाद्य-स्वाद्य है विविध प्रकार कही।
न दे, निषेध करे, उस स्थिति मे कुपित न हो जो भिक्षु वही ॥११॥

गृही-गेह से विविध अशन-जल, खाद्य-स्वाद्य कर प्राप्त सही।
आशीर्वाद न दे त्रियोग से, सवृत होता भिक्षु वही ॥१२॥

आयामक, सौवीर, यवोदन, शीत यवोदक नीरस ही ।
मिलने पर हीले न, प्रान्त कुल में जाए जो भिक्षु वही ॥१३॥

सुर नर तिर्यञ्चो के अमित भयंकर रौद्र व अद्भुत ही ।
विविध शब्द सुनकर भी न डरे, होता जग मे भिक्षु वही ॥१४॥

विविध वाद लख, कोविद, प्राज्ञ रहे मुनियो के साथ यही ।
जित्परिषह, समदर्शी, शान्त, करे अपमान न, भिक्षु वही ॥१५॥

अशिल्प-जीवी, मुक्त, अमित्र, जितेन्द्रिय, गेह छोडकर ही ।
मद-कषाय स्वल्प-लघु भुग् एकाकी विचरे भिक्षु वही ॥१६॥

सोलहवाँ अध्ययन

ब्रह्मचर्य समाधि-स्थान

प्रज्ञापक आचार्यों ने यों कहा, सुना मैंने आयुष्मन् !
ब्रह्मचर्य सुसमाधि स्थान दश, स्थविरों ने बतलाए शुभमन ॥१॥

जिन्हे श्रवण कर निश्चय कर, सयम-सवर-सुसमाधि वहुत हो ।
विचरे मुनि नित गुप्त ब्रह्मचारी, गुप्तेन्द्रिय अप्रमत्त हो ॥२॥

कहे कौन से ? वे दस ब्रह्मचर्य सुसमाधि स्थान महा ।
जिन-प्रवचन मे निश्चय स्थविर भदन्तो ने है जिन्हे कहा ॥३॥

जिन्हे श्रवणकर निश्चयकर सयम-सवर-सुसमाधि वहुल हो ।
विचरे मुनि नित गुप्त ब्रह्मचारी गुप्तेन्द्रिय अप्रमत्त हो ॥४॥

ये हैं वे दस ब्रह्मचर्य सुसमाधि स्थान अति विशद यहा ।
जिन-प्रवचन मे निश्चय गणधर स्थविरो ने है जिन्हे कहा ॥५॥

उन्हे श्रवण कर निश्चय कर सयम-संवर-सुसमाधि बहुल हो ।
विचरे मुनि नित गुप्त ब्रह्मचारी गुप्तेन्द्रिय अप्रमत्त हो ॥६॥

यथा-नित्य एकान्त शयन-आसन-सेवी होता निर्ग्रन्थ ।
स्त्री-पशु- पडक सहित शयन आसन का सेवन न करे सत ॥७॥

यह क्यो ? तब आचार्य कह रहे, स्त्री-पशु-पडक युक्त जो स्थान ।
सेवन करने वाले मुनि के ब्रह्मचर्य व्रत मे पहचान ॥८॥

शका काक्षा विचिकित्सा होती या होता सयम-भेद ।
या उन्माद व चिरकालिक रोगातङ्को से होता खेद ॥९॥

या कि केवली-कथित धर्म से हो जाता वह भ्रष्ट स्वत. ।
स्त्री-पशु-पडक युक्त स्थान का सेवन न करे भिक्षु अत. ॥१०॥

जो कि स्त्रियो के बीच न करता कथा, वही निर्ग्रन्थ महान ।
यह क्यो ? तब आचार्य कह रहे इससे ब्रह्मचर्य मे जान ॥११॥

शका काक्षा विचिकित्सा होती या होता सयम-नाश ।
या उन्माद व चिरकालिक रोगातङ्को से पाता त्रास ॥१२॥

या कि केवली-कथित धर्म से हो जाता है भ्रष्ट स्वतः।
केवल ललनाओ के बीच न कथा करे निर्ग्रन्थ अत ॥१३॥

स्त्री सह एकासन पर जो न बैठता वह निर्ग्रन्थ महान।
यह क्यो ? तब आचार्य कह रहे इससे ब्रह्मचर्य मे जान ॥१४॥

शका काक्षा विचिकित्सा होती फिर होता सयम-भेद।
या उन्माद व चिरकालिक रोगातङ्को से होता खेद ॥१५॥

या केवलि-प्रज्ञप्त धर्म से हो जाता परिभ्रष्ट स्वतः।
नारीगण के साथ न एकासन पर बैठे सत अत. ॥१६॥

रम्य मनोहर नारि-इन्द्रियो को न देखता देकर ध्यान।
यह क्यो ? तब आचार्य कह रहे इससे ब्रह्मचर्य में जान ॥१७॥

शका कांक्षा विचिकित्सा होती या होता सयम-नाश
या उन्माद व चिरकालिक आतङ्क रोग हो जाता खास ॥१८॥

या केवलि-प्रज्ञप्त धर्म से होता भ्रष्ट अत निर्ग्रन्थ
रम्य मनोहर नारि-इन्द्रियो को न ध्यान धर देखे सत ॥१९॥

कुड्य, दुष्य, भित्यन्तर से कूजन, रोदन व हास्य, गर्जन
क्रन्दन, गीत, विलाप आदि शब्दो को न सुने, वही श्रमण ॥२०॥

यह क्यो ? ऐसा पूछे जाने पर कहते आचार्य महान।
इन शब्दो को सुनने से ही ब्रह्मचर्य व्रत मे पहचान ॥२१॥

शंका काक्षा विचिकित्सा होती फिर होता सयम-नाश।
या उन्माद व चिरकालिक आतङ्क रोग हो जाता खास ॥२२॥

या कि केवली-कथित धर्म से हो जाता है भ्रष्ट स्वत.।
कभी नही उपरोक्त नारि-शब्दों को साधक सुने अत ॥२३॥

पूर्व-भुक्त, रति या क्रीडा को याद न करे, श्रमण मतिमान।
यह क्यो ? तब गुरुवर कहते हैं इनसे ब्रह्मचर्य मे जान ॥२४॥

शका काक्षा विचिकित्सा होती फिर होता सयम-नाश।
या उन्माद व चिरकालिक रोगातङ्को से पाता त्रास ॥२५॥

या कि केवली-कथित धर्म से हो जाता परिभ्रष्ट स्वत.।
पूर्व-भक्त रति क्रीडाओ की साधक याद न करे अतः ॥२६॥

प्रणीत भोजन नही करे जो कहलाता निर्गन्थ महान ।
यह क्यों ? तब गुरुवर कहते हैं इससे ब्रह्मचर्य मे जान ॥२७॥

शका काक्षा विचिकित्सा होती या होता संयम-नाश ।
या उन्माद व चिरकालिक आतङ्क रोग हो जाता खास ॥२८॥

या केवलि-प्रज्ञप्त धर्म से हो जाता परिभ्रष्ट स्वतः ।
प्रणीत भोजन कभी नही खाए साधक निर्ग्रन्थ अत. ॥२९॥

जो प्रमाण से अधिक नही खाता-पीता वह श्रमण महान ।
यह क्यो ? तब गुरुवर कहते हैं इससे ब्रह्मचर्य मे जान ॥३०॥

शका कांक्षा विचिकित्सा होती या होता सयम-नाश ।
या उन्माद व चिरकालिक आतङ्क रोग होता है खास ॥३१॥

या कि केवली-कथित धर्म से हो जाता है भ्रष्ट स्वतः ।
शास्त्र-विहित मात्रा से अधिक न खाए-पीए श्रमण अतः ॥३२॥

गात्र-विभूषा न करे जो वह कहलाता निर्ग्रन्थ सुजान ।
यह क्यो ? ऐसा पूछे जाने पर कहते आचार्य महान ॥३३॥

गात्र-विभूषा से स्त्रीजन से अभिलषणीय बने मतिमान ।
नारि-जन-अभिलषित ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य में जान ॥३४॥

शंका काक्षा विचिकित्सा होती या होता सयम-नाश ।
या उन्माद व चिरकालिक आतङ्क रोग हो जाता खास ॥३५॥

या केवलि-प्रज्ञप्त धर्म से हो जाता है भ्रष्ट स्वत. ।
तन की शोभा और विभूषा करे नही निर्ग्रन्थ अत. ॥३६॥

स्पर्श, गंध, रस, रूप, शब्द मे गृद्ध न हो, वह श्रमण महान ।
यह क्यों ? तब गुरुवर कहते हैं इससे ब्रह्मचर्य में जान ॥३७॥

शका काक्षा विचिकित्सा होती या होता सयम-नाश ।
या उन्माद व चिरकालिक आतङ्क रोग हो जाता खास ॥३८॥

या केवलि-प्रज्ञप्त धर्म से हो जाता है भ्रष्ट स्वतः ।
स्पर्श, गध, रस, रूप, शब्द में गृद्ध न साधक बने अत ॥३९॥

अन्तिम दसवाँ ब्रह्मचर्य सुसमाधि स्थान यह कहा तथा ।
इसी विषय के श्लोक और भी यहा कहे हैं, सुनो यथा ॥४०॥

अनाकीर्ण एकान्त तथा नारीजन से जो विरहित स्थान ।
ब्रह्मचर्य-रक्षा हित ऐसे स्थल मे रहे भिक्षु गुणवान ॥४१॥

काम-राग पनपानेवाली मन आल्हादकरी विकथा ।
ब्रह्मचर्य-रत साधक ऐसी छोडे सतत नारि-कथा ॥४२॥

वार-बार नारि सह वार्तालाप-विवर्जन करे सदा ।
ब्रह्मचर्य-रत साधक स्त्री के साथ न परिचय करे सदा ॥४३॥

प्रेक्षित चारुल्लपित अग-प्रत्यग व नारि के सस्थान ।
चक्षु-ग्राह्य विषयो पर ब्रह्मचर्य-रत श्रमण नही दे ध्यान ॥४४॥

नारी कूजन-रोदन-गर्जन-क्रन्दन-हास्य, मधुर संगीत ।
श्रोत-ग्राह्य विषयो को छोड़े ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु पुनीत ॥४५॥

स्त्री-सह क्रीडा, हास्य, दर्प, आकस्मिक त्रास व रतिका अनुभव ।
हुआ, उसे अनुचिन्तन न करे ब्रह्मचर्य मे रत मुनि-पुंगव ॥४६॥

प्रणीत भोजन-पान शीघ्र मदवर्धक होता है यो जान ।
लिए सदा के ऐसा भोजन तजे शील-रत श्रमण महान ॥४७॥

जीवन-यापन हित-मित, लब्ध अशन निर्दोष समय पर खाए ।
ब्रह्मचर्य-रत स्वस्थ चित्तवाला मात्रा से अधिक न खाए ॥४८॥

ब्रह्मचर्य-रत साधक तजे विभूषा तन परिमडन भी ।
शृगारार्थ न धारण करे, केश, दाढी, नख आदि कभी ॥४९॥

पाच प्रकार काम-गुण हैं जो शब्द रूप रस गध स्पर्श ।
इन्हे सदा के लिए छोड दे, साधक श्रमण मुमुक्षु सहर्ष ॥५०॥

स्त्रीजन से आकीर्ण गेह फिर तथा-मनोरम नारि-कथा ।
नारी-गण का परिचय, नारी-इन्द्रिय-दर्शन तूर्य तथा ॥५१॥

कूजन, रोदन हास्य, गीत का श्रवण भुक्तासित को याद ।
प्रणीत भोजन-पान प्रमाण-अधिक भोजन करता उन्माद ॥५२॥

देह सजाने की इच्छा फिर है ये दुर्जय काम व भोग ।
आत्म-गवेषी नर के लिए, तालपुट विष सम इनका योग ॥५३॥

लिए सदा के दुर्जय काम व भोगो को छोडे पहचान ।
शंकास्पद सब स्थान तजे, प्रणिधानवान साधक गुणवान ॥५४॥

धर्म-पथिक धृतिमान तथा फिर धर्माराम-रक्त मुनि दान्त ।
ब्रह्मचर्य सुसमाहित धर्म-बगीचे मे विचरे उपशान्त ॥५५॥

सुर, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर प्रणाम न करते ।
दुष्कर ब्रह्मचर्य व्रत पालक के चरणो मे सिर धरते ॥५६॥

जिन-देशित यह धर्म नित्य है, शाश्वत है ध्रुव है इससे ।
सिद्ध अनेक हुए, होते है, होंगे मैं कहता तुमसे ॥५७॥

सतरहवाँ अध्ययन

पापश्रमणीय नामक

धर्म श्रवण कर विनय युक्त मुनि दुर्लभ बोधिलाभ को पाकर ।
पहले दीक्षित बन फिर पीछे फिरता स्वच्छन्दता अपनाकर ॥१॥

दृढ शय्या प्रावरण, अन्न जल भी मिल जाता है आयुष्मन ।
वर्तमान ज्ञाता हूँ वह कहता क्यो ? ज्ञान पढू फिर भगवन ॥२॥

दीक्षा लेकर फिर जो निद्रा बार-बार लेता मुनिजन ।
खा पीकर सुख से सोजाता वह कहलाता पाप श्रमण ॥३॥

उपाध्याय आचार्यों से जो विनय व श्रुत का ले शिक्षण ।
अज्ञ उन्ही की निन्दा करता वह कहलाता पाप श्रमण ॥४॥

उपाध्याय आचार्यों की न करे चिन्ता, अभिमानी बन ।
सम्यग् सेवा इज्जत न करे, वह कहलाता पाप श्रमण ॥५॥

हरित बीज प्राणी आदिक का जो करता है समर्दन ।
असयमी हो संयत माने, वह कहलाता पाप श्रमण ॥६॥

पैर पोछने का कबल व बिछोना, पाट, पीठ आसन ।
इन पर बिना प्रमार्जन किए बैठता है वह पाप श्रमण ॥७॥

बारबार करता प्रमाद चलता द्रुत गति से क्रोधित बन ।
प्राणी गण को लाँघ चले जो वह कहलाता पाप श्रमण ॥८॥

जहाँ कही पद कबल रखे, करे प्रमत्त हो प्रतिलेखन ।
इस प्रकार प्रतिलेखन मे असजग रहता वह पाप श्रमण ॥९॥

बातें सुनकर असावधानी से करता जो प्रति लेखन ।
तिरस्कार जो गुरु का करता वह कहलाता पाप श्रमण ॥१०॥

स्तब्ध लुब्ध वाचाल व मायी अनियन्त्रित मन इन्द्रिय गण ।
असविभागी प्रेम न रखने वाला होता पाप श्रमण ॥११॥

फिर से शान्त विवाद जगाए आत्म बुद्धि का करे हनन ।
असदा चारी कलह कदाग्रह-रत होता जो पाप श्रमण ॥१२॥

बिना प्रयोजन इधर-उधर फिरता व बैठता अस्थिर बन।
आसन विधि मे जो कि असावधान होता वह पापश्रमण ॥१३॥

स-रज पाँव सो जाए जो फिर करे न शय्या प्रतिलेखन।
शयन विषय मे जो कि असावधान है वह है पापश्रमण ॥१४॥

बार-बार दधि-दुग्ध विकृतियो का करता है जो भोजन।
और तपस्या में अरक्त है वह पाप कहलाता पापश्रमण ॥१५॥

सूर्य उदय से सूर्य अस्त तक खाता रहता है क्षण-क्षण।
प्रेरित-प्रतिप्रेरित होता है वह कहलाता पापश्रमण ॥१६॥

छोड़ सुगुरु को अन्य सप्रदायों में जाता दुराचरण।
षन्मासान्तर गच्छ बदलता वह कहलाता पापश्रमण ॥१७॥

निज गृह को तज अपर घरों में व्यापृत होता है मुनिजन।
जो कि शुभाशुभ बता धनार्जन करता है वह पापश्रमण ॥१८॥

सामुदायिकी भिक्षा तज निज ज्ञाति जनो के घर पर खाता।
जो कि बैठता गृहि-शय्यापर वह मुनि पाप श्रमण कहलाता ॥१९॥

पाच कुशील-असंवृत, साधु वेष धर, मुनियों मे निम्न स्तर।
अत्र-परत्र न वह कुछ होता, होता विष ज्यो निंद्य यहाँ पर ॥२०॥

इन दोषो को सदा तजे, जो मुनियो मे सुव्रत कहलाता।
यहाँ सुधा सम पूजित वह लोकद्वय आराधन कर पाता ॥२१॥

अठारहवाँ अध्ययन

संजयीय

था कापिल्य नगर मे संजय नृप, बल-वाहन से सम्पन्न ।
एक दिवस वह गया शिकार खेलने खातिर प्रमुदित मन ॥१॥

हय-गज-रथ-आरूढ़ महान सैनिकों द्वारा परिवृत था ।
और पदाति चमू से चारो ओर भूपति वेष्टित था ॥२॥

कापिलपुर-केसर उपवन मे सुभटो द्वारा क्षिप्त मृगों को ।
रस-मूर्छित, हय चढ़, नृप मार रहा था खिन्न सभीत मृगो को ॥३॥

उस केसर उपवन मे एक तपोधन मुनि अनगार महान ।
वे स्वाध्याय-ध्यान मे लीन, ध्या रहे थे वे धर्म-ध्यान ॥४॥

लताकीर्ण-मडप मे ध्यान ध्या रहे क्षपिताश्रव अनगार ।
उनके पार्श्व-स्थित हिरणों पर किए भूप ने शर प्रहार ॥५॥

हयारूढ वह शीघ्र वहाँ आ पहले मृत हिरणों को देखा ।
उसी स्थान पर फिर उस नृप ने ध्यान स्थित मुनिवर को देखा ॥६॥

मुनि को देख हुआ भय-भ्रान्त, भूप ने सोचा मैंने नाहक ।
आहत किया श्रमण को, मैं हूँ भाग्यहीन, रसलोलुप, घातक ॥७॥

हय को छोड़, विनयपूर्वक वन्दन, मुनि को नृप करता, कहता ।
भगवन् क्षमा करे अपराध हमारा, यह यो अनुनय करता ॥८॥

वे भगवान् मौन पूर्वक सद् ध्यान-लीन थे अत. न उत्तर ।
दिया उन्होने, इससे नृप हो गया भयाकुल और अधिकतर ॥९॥

भगवन् ! मैं संजय नृप हूँ मेरे से बोले कृपावतार !
क्योकि तेज से कोटि नरो को करता भस्म कुपित अनगार ॥१०॥

पार्थिव ! तुझे अभय है तू भी अभय प्रदाता बन सत्वर ।
क्यो अनित्य इस जीवलोक मे, हिंसासक्त बना नरवर ॥११॥

सब कुछ छोड़ यहाँ परवश जाना ही होगा तुम्हे यदा ।
क्यो अनित्य इस जीवलोक मे राज्य-मुग्ध हो रहा तदा ॥१२॥

जहाँ मोह तू करता है राजन् ! वह जीवन, रूप-रुचिरता ।
विद्युत-चमत्कार सम चंचल, परभव हित को क्यों न समझता ।।१३।।

स्त्रियाँ, पुत्र, फिर बान्धव, मित्र आदि जो यहाँ स्वजन कहलाते ।
जीवित नर के सह जीते हैं किन्तु न मृत के पीछे जाते ।।१४।।

परम दुखित हो मृतक पिता को श्मशान ले जाते हैं सुतवर ।
पितु भी मृत, सुत बन्धुजनो को, अतः समाचर तप तू नरवर ।।१५।।

मरने के पश्चात् भूप ! अर्जित धन, रक्षित स्त्री गण को ।
हृष्ट, तुष्ट व अलकृत हो, नर अपर भोगते हैं उनको ।।१६।।

जो सुखकर या दुखकर कर्म किया है उसको लेकर साथ ।
परभव मे जाता एकाकी सब कुछ छोड़ यहाँ नरनाथ ! ।।१७।।

उस अनगार श्रमण से अति आदर पूर्वक सुन धर्म महान ।
संसृति से उद्विग्न हुआ संजय नृप मोक्ष-इच्छु गुणवान ।।१८।।

गर्दभालि भगवान्, श्रमण के पास हुआ दीक्षित तत्काल ।
राज्य छोड कर जिन शासन मे साधु बना संजय भूपाल ।।१९।।

राष्ट्र छोड़ प्रव्रजित एक क्षत्रिय मुनि कहता संजय से यो ।
दीख रही आकृति प्रसन्न ज्यो मन भी तेरा है प्रसन्न त्यो ।।२०।।

क्या है नाम व गोत्र तथा किस लिए बने हो माहन तुम ?
किस प्रकार गुरु-सेवा करते, किस प्रकार हो विनयी तुम ।।२१।।

श्रमण ! नाम से मैं हूँ संजय तथा गोत्र से गौतम, आर्य !
विद्याचरण-पारगामी हैं मेरे गर्दभालि आचार्य ।।२२।।

क्रिया, अक्रिया, विनय और अज्ञानवाद जो मुने ! कहाते ।
इन चारो द्वारा एकान्त-तत्त्ववादी क्या-क्या बतलाते ? ।।२३।।

विद्याचरण युक्त जो सचवादी फिर सत्य पराक्रमवान ।
शान्त ज्ञात-वशीय तत्त्वविद् ने निम्नोक्त कहा, मतिमान ।।२४।।

पाप कर्म करने वाले नर घोर नरक मे जाते हैं ।
आर्य धर्म करने वाले नर, दिव्य देव गति पाते है ।।२५।।

जो भी कहा उन्होने कपट पूर्ण है, मिथ्या वचन, निरर्थक ।
उनसे बचकर रहता हूँ चलता संयत में यत्ना पूर्वक ।।२६।।

जान लिए मैंने सब है वे मिथ्यादृष्टि अनार्य तथा।
परभव-विद्यमानता मे आत्मा का सम्यक् मुझे पता ॥२७॥

मैं था महाप्राण में द्युतिवाला सुर वर्ष शतोपम पूर्ण।
माना जाता यहाँ, वहाँ त्यों पल्य सागरोपम-परिपूर्ण ॥२८॥

ब्रह्म लोक से च्युत हो, मनुज लोक मे आया हूँ पहचान।
ज्यो अपना आयुष्य जानता, त्यों औरो का भी मतिमान ॥२९॥

नाना रुचि, अभिप्राय व सभी अनर्थों को छोडे संयत।
इस विद्या के पथ पर तेरा हो संचरण श्रमण! संतत ॥३०॥

सपाप प्रश्नो और गृहस्थ मत्रणाओं से रहता दूर।
निशि-दिन धर्मोद्यत रहता, यह समझ करो तुम तप भरपूर ॥३१॥

शुद्ध चित्त से जो तुम मुझे पूछते हो आयुष्य विषय मे।
उसे बुद्ध ने प्रकट किया है विद्यमान वह जिन-शासन में ॥३२॥

छोड़ अक्रियावाद, करे रुचि क्रियावाद मे धीर प्रवर।
सम्यक्-दर्शन से सयुत हो, धर्माचरण करे दुष्कर ॥३३॥

अर्थ-धर्म से उपशोभित इस पावन सदुपदेश को सुनकर।
दीक्षित हुए भरत नृप, भारतवर्ष, कामभोगो को तजकर ॥३४॥

सागरान्त भारत-भू छोड, सगर चक्री भी गुण-सभृत।
तज सपूर्ण ऋद्धि को, सयम पाल हुए हैं परिनिर्वृत ॥३५॥

महा यशस्वी तथा महर्द्धिक मघवा चक्रीश्वर ने सर्व।
भारतवर्ष छोड कर दीक्षा ली, फिर मुक्त बने गत गर्व ॥३६॥

मानवेन्द्र व महर्द्धिक चक्रवर्ती चौथा जो सनत्कुमार।
सुत को राज्य सौप कर, उसने उग्र तपस्या की स्वीकार ॥३७॥

विश्व शान्तिकारक व महर्द्धिक, चक्री शान्तिनाथ नामी।
वे भी भारतवर्ष छोडकर हुए अनुत्तर गति गामी ॥३८॥

इक्ष्वाकु नृपति श्रेष्ठ, कुन्थु नामक नर-इन्द्र हुए धृतिमान।
अति विख्यात कीर्ति वाले पा गए अनुत्तर-मोक्ष स्थान ॥३९॥

सागरान्त भारत भू छोड नरेश्वर अर नामक नामी।
नीरज होकर वे भी सत्वर हुए अनुत्तर गति गामी ॥४०॥

विपुल राज्य फिर सेना, वाहन, उत्तम भोगो को तजकर ।।
महापद्म चक्री ने भी तप का आचरण किया सुन्दर ।।४१।।

अरि-मद-मर्दन एक-छत्र, पृथ्वी पर करके राज्य महान ।
हरिषेणाऽभिध मनुजाधिप ने प्राप्त किया वर मोक्ष-स्थान ।।४२।।

एक हजार नृपो सह जय नामक चक्री वैभव तजकर ।
जिन-भाषित दम का आचरण किया, फिर मुक्त बने नरवर ।।४३।।

प्रमुदित-राज्य, दशार्ण देश का छोड़, दशार्णभद्र नृपवर ।
साक्षात्-शक्र-प्रप्रेरित घर से निकल बना, वह श्रमण प्रवर ।।४४।।

करकंडू भूपति कलिंग मे द्विमुख भूप पाचाल देश मे ।
नमि नृप हुआ विदेह देश मे नग्गति नृप गाधार देश मे ।।४५।।

ये नृप वृषभ सभी अपने पुत्रो को राज्य-भार देकर ।
जिन शासन मे हुए प्रव्रजित श्रमण-धर्म मे नित तत्पर ।।४६।।

उद्रायण सौवीर, राजवृष, सर्व राज्य वैभव तजकर ।
दीक्षा ले, मुनिवृत्ति पाल कर, उत्तम गति पाए सत्वर ।।४७।।

त्यो ही काशी नृप ने श्रेय सत्य-हित किया पराक्रम घोर ।
कर्म महावन का उन्मूलन किया, भोग, वैभव को छोड़ ।।४८।।

त्यो ही महा यशस्वी विमल कीर्ति वाले नृप विजय प्रधान ।
गुण समृद्ध राज्य तज, जिनशासन मे दीक्षित हुए महान ।।४९।।

त्यो फिर अव्याक्षिप्त चित्त से उग्र तपस्या कर धृतिमान ।
महाबलाभिध, राज ऋषीश्वर पाए सिर दे, शीर्ष-स्थान ।।५०।।

कुहेतुओं से नर उन्मत्त भाँति कैसे चल सकते भू पर ।
इस विशेषता से वे दीक्षित हुए वीर दृढ पराक्रमी नर ।।५१।।

अतीव युक्ति-युक्त यह मैंने बात कही है सत्य-उजागर ।
तिरे तिरेंगे तिरते इसके द्वारा कई मनुज भव-सागर ।।५२।।

अहेतुवादो मे अपने को धीर पुरुष किस तरह लगाए ।
सब सगो से मुक्त, कर्म-रज विरहित होकर सिद्ध कहाए ।।५३।।

उन्नीसवाँ अध्ययन

मृगापुत्रीय

कानन उद्यानो से शोभित रम्य नगर सुग्रीव विशाल ।
राजा था बलभद्र वहाँ पटरानी मृगावती सुकुमाल ॥१॥

पुत्र वलश्री, मृगापुत्र की सज्ञा से जो विश्रुत था ।
मात-पिता को प्रिय था वह युवराज दमीश्वर सश्रुत था ॥२॥

सदानन्दप्रद भवनो मे ललनाओं के सह क्रीड़ा करता ।
दोगुन्दुक देवो की नांई प्रमुदित मानस वह नित रहता ॥३॥

मणि-रत्नो से जड़िताङ्गन-प्रासाद-गवाक्षस्थित युवराज ।
पुर के त्रिक चत्वर व चतुष्क पथों को देख रहा नरताज ॥४॥

तत्र स्थित उसने जाते देखा तप-व्रत-सयमधर को ।
शील ऋद्धि सपन्न, गुणाकर, श्रमण, भिक्षु संयत वर को ॥५॥

मृगा-पुत्र अनिमेष दृष्टि से उसे देखता है, मैं मानू ।
ऐसा रूप कही पर पहले मैंने देखा है, पहचानू ॥६॥

अध्यवसाय पवित्र व मुनि-दर्शन होने पर सघन चित्त को ।
ऐसी वृत्ति हुई, फिर याद उसे हो आई पूर्व जन्म की ॥७॥

[देवलोक से च्युत हो मनुज जन्म मे आया है, समनस्क ।
ज्ञान हुआ तब पूर्व जन्म की हुई उसे फिर स्मृति सद्यस्क ॥]

महा ऋद्धिधर मृगा-पुत्र को जाति स्मृति होने पर ज्ञान ।
पूर्व जन्म व पुराकृत सयम की स्मृति हो आई अम्लान ॥८॥

विषयो की आसक्ति न रही हुआ वह सयम मे अनुरक्त ।
मात-पिता के निकट पहुँच, इस भाँति कहा उसने उस वक्त ॥९॥

महाव्रतो को सुना, नरक तिर्यञ्च योनि मे दुख है तात !
भव-सागर से हूँ विरक्त, दीक्षा लूंगा आज्ञा दे मात ! ॥१०॥

मात-पिता ! भोगो को भोग चुका हूँ ये विषफल सम है ।
कटु परिणाम, निरन्तर दुख देने वाले, सुख का भ्रम है ॥११॥

अति अनित्य यह और अशुचि है तथा अशुचि-संभव तन है।
यहाँ जीव का वास अशाश्वत दु:ख-क्लेश का भाजन है ॥१२॥

जल-बुलबुल सम क्षणिक अशाश्वत इस तन मे न मुझे रति है।
पहले-पीछे इसे छोड़ना ही होगा निश्चित मति है ॥१३॥

व्याधि रोग का आलय, जन्म-मृत्यु से घिरा हुआ तन है।
इस असार नर-भव मे क्षण-भर भी न यहाँ लगता मन है ॥१४॥

जन्म दु:ख है जरा दु:ख है रोग तथा मरना दुख है।
अहो ! दु:खमय सारा जग है जहाँ जीव पाते दुख हैं ॥१५॥

सुत दारा बान्धव हिरण्य घर खेत तथा इस तन को भी।
परवश मुझे छोड कर जाना होगा सब धन-जन को भी ॥१६॥

यथा नही किम्पाक फलो का सुन्दर होता है परिणाम।
तथा भुक्त-भोगो का भी न कभी होता सुन्दर परिणाम ॥१७॥

सबल लिए बिना जो मानव लम्बे पथ को लेता है।
भूख-प्यास से पीड़ित होकर दुखी निरन्तर होता है ॥१८॥

इसी तरह जो बिना धर्म के मानव पर-भव मे जाता।
व्याधि-रोग से पीड़ित होकर पग-पग पर वह दुख पाता ॥१९॥

सम्बल को ले साथ मनुज जो लम्बे पथ मे चलता है।
भूख-प्यास-वर्जित हो सुख पूर्वक मजिल पर बढता है ॥२०॥

इसी तरह जो धर्म पालकर नर पर-भव मे जाता है।
व्याधि-रहित वह अल्प कर्म वाला, आनन्द मनाता है ॥२१॥

जिस प्रकार गृहपति स्वगेह मे अग्निकाड हो जाने पर।
तज असार सब सार वस्तुए वह निकाल लेता सत्वर ॥२२॥

इसी तरह यह जरा-मृत्यु से जलता रहता है ससार।
पा निर्देश आपका इससे मैं बच निकलूगा उस पार ॥२३॥

मात-पिता ने कहा, पुत्र ! श्रामण्य पालना अति दुष्कर।
सुगुण सहस्रों मुनि को धारण करने पड़ते हैं वरतर ॥२४॥

शत्रु हो या मित्र सभी जीवो पर साम्य भाव रखना।
दुष्कर है हिंसा से बच कर जीवन-भर जग मे बसना ॥२५॥

लिए सदा के अप्रमत्त हो, मृषावाद-वर्जन करना।
सोपयोग हितकारी सच कहना दुष्कर है व्रत धरना ॥२६॥

दाँत शोधने का तिनका भी बिना दिए न ग्रहण करना।
एषणीय अनवद्य ग्रहण भी अति दुष्कर यह व्रत धरना ॥२७॥

कामभोग-रस-विज्ञ मनुज के लिए मिथुन-उपरत होकर।
उग्र महाव्रत ब्रह्मचर्य धारण करना है अति दुष्कर ॥२८॥

नौकर-चाकर दास तथा धन-धान्य परिग्रह को तजकर।
सर्वारम्भ-परिग्रह त्यागी निर्ममत्व होना दुष्कर ॥२९॥

जीवन-भर तक निशि में चारों ही आहार त्याग देना।
सन्निधि, संग्रह का वर्जन भी दुष्कर है, यह व्रत लेना ॥३०॥

क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण फिर दश-मशक का दुख वढकर।
कटुक वचन, दुखद-शय्या, तृण-स्पर्श मैल परीषह दुष्कर ॥३१॥

तथा ताड़ना और तर्जना वध, बन्धन परिषह सहना।
भिक्षाचर्या दुखद याचना फिर अलाभ मे सम रहना ॥३२॥

कठिन-वृत्ति कापोती, केशों का लुचन दारुण है आर्य!
घोर ब्रह्मव्रत-ग्रहण, महात्माओं के लिए कठिनतम कार्य ॥३३॥

तू है पुत्र! सुखोचित और सुसज्जित तन, सुकुमार सही
तू मुनिव्रत पालन करने के लिए कदापि समर्थ नही ॥३४॥

गुरुतर लोह-भार को नित ढोना ज्यों बहुत-कठिन है पुत्र!
अविश्राम त्यो जीवन-भर गुण-महाभार, मुनि जीवन-सूत्र ॥३५॥

नभ गंगा का स्रोत पकड़ प्रतिस्रोत तैरना दुष्कर है।
भुज-बल से ज्यो उदधि तैरना त्यो गुण-सागर दुस्तर है ॥३६॥

बालू कवल समान साधु जीवन अति नीरस पहचानो।
असि-धारा पर चलने जैसा तप-आचरण पुत्र! मानो ॥३७॥

अहि की ज्यो एकाग्र दृष्टि से चरण निभाना पुत्र! कठिन है।
ज्योंकि चबाना लोहे के यव, त्यो चारित्र अतीव कठिन है ॥३८॥

ज्यो प्रदीप्तमय अग्नि-शिखा को मुख से पीना दुष्कर कार्य।
तरुणावस्था में त्यो चरण निभाना महाकठिन है आर्य! ॥३९॥

कपड़े के थैले को मारुत से भरना ज्यों कठिन विशेष।
सत्वहीन नर से त्यों श्रमण धर्म का पालन कठिन विशेष ॥४०॥

ज्योंकि कठिन है मेरु शैल का तकडी से तोला जाना।
निश्चल निर्भय होकर श्रमण धर्म का त्यो पाला जाना ॥४१॥

और भुजाओ से समुद्र को बहुत कठिन तैरना यथा।
अनुपशान्त नर से त्यो ही दम-सागर को तैरना तथा ॥४२॥

मनुज सम्बन्धी पाँच इन्द्रियो के भोगो को भोग प्रवर।
तत. भुक्तभोगी बनकर मुनिधर्म पाल लेना सुतवर! ॥४३॥

मात-पिता से कहा पुत्र ने कथन आपका बिल्कुल सत्य।
लेकिन निःस्पृह जन के लिए न कुछ भी कठिन यहा यह तथ्य॥४४॥

बार अनन्त मानसिक शारीरिक अति घोर वेदनाएं।
सही अनेक बार दुख भय का अनुभव कहा नही जाए ॥४५॥

चार अन्त वाले, भय-आकर जन्म-मरण मय जंगल में चिर।
जन्म-मरण के घोर दुखो को सहन किया बहुधा मैंने फिर ॥४६॥

जैसे यहाँ उष्ण है इससे वहाँ अनन्त गुणाऽधिक जान।
दुखमय उष्ण वेदना सही नरक मे मैंने तात! महान ॥४७॥

जैसे यहाँ शीत है इससे वहा अनन्त गुणाऽधिक जान।
दुखमय शीत वेदना सही नरक मे मैंने तात! महान ॥४८॥

कुन्दु कुभियो मे नीचा शिर ऊर्ध्व पैर कर ज्वलित आग पर।
क्रन्दन करता हुआ पकाया गया अनन्त बार मैं पितुवर! ॥४९॥

महा दवाग्नि वज्र बालुका मरुस्थल सदृश कदम्ब नदी को—
वालू में, अनन्त बार मैं गया जलाया, व्यथा बदीकी ॥५०॥

त्राण-रहित क्रन्दन करते को पाक-पात्र में बाधा ऊपर।
करवत आरादिक से मुझको छेदा बार अनन्त वहाँ पर ॥५१॥

तीक्ष्ण कंटकाकीर्ण अतीव उच्च शालमलि के पादप पर।
पाशबद्ध कर इधर-उधर खीचा, असह्य दुख था अति दुष्कर ॥५२॥

अति आक्रंदन करता बार अनन्त ऊख ज्यो मैं पापी।
महा यन्त्र में पेरा गया, स्व कर्मों द्वारा सतापी ॥५३॥

रुदन पलायन करता, सबल श्याम सूअर कुत्तों द्वारा मैं।
बार अनेक गिराया, फाडा, काटा गया नरक कारा में ॥५४॥

लोह-दड भल्लियो व अलसी कुसुम वर्ण खड्गो से तात !
छिन्न-भिन्न व विच्छिन्न हुआ पापो द्वारा नरको मे मात ! ॥५५॥

समिलायुत प्रज्वलित लोह-रथ मे जोता मैं गया विवश फिर।
चाबुक रस्सी द्वारा हाका गया रोझ ज्यों पटका भू पर ॥५६॥

पाप कर्म से घिरा विवश मैं, जलती हुई चिताओं मे चिर।
भैंसे की ज्यों मुझे जलाया और पकाया गया वहा फिर ॥५७॥

लोह-तुण्ड, संदश-तुण्ड सम ढक गीध विहगो से हन्त।
जवरन क्रन्दन करता नोचा गया वहा मैं वार अनन्त ॥५८॥

जल पीऊगा हुआ सोचता पहुंचा वैतरणी पर दौड़।
प्यासाकुल इतने मे क्षुर-धारा से चीरा गया सजोर ॥५९॥

गर्मी से संतप्त, गया असि-पत्र महावन मे जिस-वार।
असि-पत्रों के गिरने से मैं छेदा गया अनेकों वार ॥६०॥

मूसल मुद्गर शूल सूण्डियो से मैं भग्न शरीर हुआ।
त्राण-हीन, इस भाति अनन्त वार मैं दुख को प्राप्त हुआ ॥६१॥

तीक्ष्ण छुरो-छुरियो व कैंचियों से मैं किया गया शत खड।
खाल उतारी, छेदा गया, किया दो टूक, न रहा घमड ॥६२॥

मृग की ज्यो पाशो व कूट-जालो मे ठगा गया हर बार।
पराधीन मैं बांधा, रोका, मारा गया, अनेकों बार ॥६३॥

वड़िश यन्त्र से मगर-जाल से परवश बना मत्स्य ज्यो म्लान।
खीचा, फाड़ा, पकडा मारा गया अनन्त बार, वेजान ॥६४॥

वज्र लेप, जालो व बाज-विहगो से पक्षी की ज्यो पकड़ा।
गया अनन्त बार चिपकाया, बाधा मारा गया कि जकड़ा ॥६५॥

ज्यो सुथार द्रुम को त्यो फरसो तथा कुल्हाड़ी से दो टूक—
किया गया, छीला कूटा छेदा अनन्तश वहाँ न चूक ॥६६॥

लोहे को लोहार यथा, त्यों थप्पड़ मुक्कों उस वार।
कूटा, पीटा, चूरा, छेदा गया अनन्त बार, लाचार ॥६७॥

कलकल करता तप्त लोह, ताम्बा रांगा सीसा जवरन।
जोरो से अरडाते मुझे पिलाया यम ने निर्दय बन ॥६८॥

खंड व शूल्यक मांस तुझे अति प्रिय था ऐसे याद दिलाया।
मेरे तन का मांस काट कर लाल अग्नि सम मुझे खिलाया ॥६९॥

सुरा सीधु मेरक मधु प्रिय था बहुत तुझे यह याद दिलाकर।
जलती चर्बी और रुधिर को मुझे पिलाया गया वहां पर ॥७०॥

सदा भीत दु खित संत्रस्त व्यथित बन रहते हुए वहा पर।
परम दु खमय तीव्र वेदना का अति अनुभव किया प्रचुरतर ॥७१॥

तीव्र चंड अति दु.सह घोर प्रगाढ भयकर भीम वेदना।
का अनुभव है किया नरक मे, अब मेरे को कर्म-छेदना ॥७२॥

मनुज-लोक मे हमे दीखती जैसी घोर वेदना तात !
उससे वहा अनन्त गुनाऽधिक नरक वेदना का संताप ॥७३॥

मुझको सभी भवो में दुखद वेदना की अनुभूति हुई है।
वहां निमेषान्तर जितनी भी शुभ सुखमय वेदना नही है ॥७४॥

कहा, पिता-माता ने, तेरी इच्छा है तो दीक्षा ले सुत !
किन्तु न रोग-चिकित्सा होती, कितना कठिन श्रमण पथ अद्भुत ॥७५॥

सुत ने कहा पिता-माता से कथन आपका ठीक अहो !
पर वन मे मृग-विहगो का करता है कौन इलाज कहो ॥७६॥

ज्यो अरण्य मे एकाकी मृग विहरन करता है अविकल।
त्यो मैं भी तप-संयम-सह पालूँगा धर्म सदा अविचल ॥७७॥

घोर विपिन मे तरु-मूल-स्थित मृग जब रोगी हो जाता।
कौन चिकित्सा करता उसकी बतलाए हे पितु ! माता ! ॥७८॥

औषधि कौन उसे देता फिर कौन पूछता सुख की बात।
उसे अन्न-जल लाकर देता ऐसा कौन वहाँ पर तात ! ॥७९॥

जब कि स्वस्थ हो जाता है वह तब गोचर मे इठलाता।
लता-निकुजो जलाशयों मे खाने-पीने-हित जाता ॥८०॥

लता निकुजो जलाशयो मे खा-पीकर वह सुख पाता।
मृगचर्या के द्वारा मृगचर्या को शीघ्र चला जाता ॥८१॥

त्यो सयम तत्पर हो करता भिक्षु स्वतन्त्र विहार प्रवर।
मृगचर्या का पालन कर मोक्षस्थल को जाता सत्वर ॥८२॥

अनेकचारी, अनेकवासी ध्रुव गोचर एकाकी मृग ज्यों।
नही किसी की भिक्षागत मुनि हीला निन्दा करता है त्यों ॥८३॥

मृगचर्या धारूगा यथा-सौख्य हो तथा करो सुतवर !
मात-पिता की अनुमति पाकर, उपधि छोडता है बुधवर ॥८४॥

सब दुख-मुक्तिप्रदा मृगचर्या धारूगा मैं अनुमति पाकर।
कहा पिता-माता ने, जैसे मुख हो वैसे करो पुत्रवर ! ॥८५॥

यों बहु विध अनुमति के लिए पिता-माता को राजी कर।
ममत्व-छेदन करता, ज्यों कचुक का, महा नाग द्रुततर ॥८६॥

ऋद्धि, मित्र, धन, पुत्र, कलत्र व ज्ञाति जनो को प्रमुदित मन।
कपड़े पर से ज्यो कि धूलि को झटकाकर वह बना श्रमण ॥८७॥

पांच महाव्रत युक्त, समिति पंचक से समित, त्रि-गुप्ति-गुप्त है।
बाह्याभ्यन्तर तप करने के लिए बना सतत उद्यत है ॥८८॥

निर्मम निरहकर और निर्लेप, त्यक्त-गौरव मतिमान।
त्रस स्थावर सब जीवो मे रखने वाला समभाव महान ॥८९॥

लाभ अलाभ और सुख-दुख मे जीने मरने मे सम है।
निन्दा-स्तुति-अपमान-मान मे सम रहना जिसका क्रम है ॥९०॥

गौरव, दण्ड, कषाय, हास्य, भय, शल्य, शोक से वर्जित है।
अशुभ-निदान और बन्धन से रहित बना, धृति अर्जित है ॥९१॥

अत्र लोक व परत्र लोक मे अनासक्त पावन तम है।
वासी, चन्दन मे सम और अशन अनशन मे भी सम है ॥९२॥

अप्रशस्त द्वारो का अवरोधक, पिहिताश्रव शुभ मन है।
शुभ अध्यात्म-ध्यान-योगो से वह प्रशस्त-दम-शासन है ॥९३॥

इस प्रकार चारित्र, ज्ञान, दर्शन, तप शुद्ध भावना से।
भलीभाँति आत्मा को भावित किया, विमुक्त कामना से ॥९४॥

बहु वर्षों तक श्रमण धर्म का निरतिचार पालन करके।
ततः अनुत्तर सिद्धि प्राप्त की एक मास-अनशन धरके ॥९५॥

जो संबुद्ध विचक्षण पंडित इस भाँति नित करते हैं।
भोगों से उपरत बन, मृगापुत्र ऋषि ज्यों शिव वरते हैं ॥९६॥

महायशस्वी प्रभावशाली मृगापुत्र का कथन श्रवण कर।
तप-प्रधान आचरण, त्रिलोक-प्रथित-उत्तम गति को भी सुनकर ॥९७॥

दुखवर्धक धन को, ममता, बन्धन को, महा भयद पहचान।
सुखद अनुत्तर मोक्षद धर्मधुरा महान धारो मतिमान ॥९८॥

बीसवाँ अध्ययन

महानिर्ग्रन्थीय

भाव भरा सिद्धो व संयतो को कर नमस्कार, गुण चुन लो।
साध्य, धर्म की ज्ञापक तथ्य पूर्ण शिक्षा तुम मुझसे सुन लो ॥१॥

प्रभूत रत्नाधिप मगधेश्वर श्रेणिक नृप क्रीड़ा करने को।
गया एकदा मडि कुक्षि उपवन मे, मनस्ताप हरने को ॥२॥

नाना वृक्ष लता-आकीर्ण, विविध विहगो से सेवित था।
नाना कुसुमाच्छन्न तथा नन्दनवन-सम वह सुरभित था ॥३॥

सयत सुसमाहित सुकुमार सुखोचित एक साधु को उसने।
वहाँ वृक्ष के नीचे स्थित देखा है सहसा श्रेणिक नृप ने ॥४॥

उसका रूप देखकर राजा उसके प्रति आकृष्ट हुआ।
और उसे फिर अतुलनीय अत्यन्त परम आश्चर्य हुआ ॥५॥

अहो ! आर्य का रूप वर्ण कैसा ? व सौम्यता है कैसी।
क्षान्ति, मुक्ति, भोगो मे अनासक्ति न कही देखी ऐसी ॥६॥

दे प्रदक्षिणा उसके चरणों मे कर नमन, बैठता है।
नाति दूर वह नाति निकट बद्धांजलि प्रश्न पूछता है ॥७॥

भोग समय इस तरुणावस्था मे प्रव्रजित हुए क्यो आर्य !
तत्पर हुए श्रमणता मे क्यो ? सुनना चाहूगा अनिवार्य ॥८॥

महाराज ! मैं अनाथ हूँ मेरा कोई भी नाथ नही।
अनुकम्पा करने वाला व मित्र का कोई साथ नही ॥९॥

मगधाधिप श्रेणिक नृप यो सुन, हसा जोर से यो बोला फिर।
सहज भागशाली हो तुम, कैसे 'न नाथ कोई तेरा फिर ॥१०॥

हे भदन्त ! मैं नाथ बनूँगा तेरा, संयत ! भोगो भोग।
मित्र ज्ञातियो से परिवृत हो, क्योकि सुदुर्लभ नरभव-योग ॥११॥

तुम हो स्वयं अनाथ व होते हुए अनाथ स्वय ऐसे।
मगधाधिप ! श्रेणिक ! औरो का नाथ बनोगे तुम कैसे ॥१२॥

मुनि के द्वारा ऐसे अश्रुतपूर्व कहे जाने पर शब्द।
अति व्याकुल आश्चर्य मग्न होकर, रह गया नराधिप स्तब्ध ॥१३॥

घोड़े, हाथी, मनुज, नगर, अन्तःपुर फिर आज्ञा, ऐश्वर्य।
ये मेरे हैं पास, मनुज-भोगो को भोग रहा मुनिवर्य ॥१४॥

जिसने भोग समर्पित मुझे किए, वैसी सम्पदा प्रवर।
मैं अनाथ कैसे हूँ भगवन्! मत असत्य बोलो मुनिवर! ॥१५॥

अर्थोत्पत्ति अनाथ शब्द की पार्थिव! नही जानता तू।
जैसे होता नाथ, अनाथ, न वैसे भूप! जानता तू ॥१६॥

अव्याकुल मन से सुन मुझसे ज्यो अनाथ होता नरराज!
जिस आशय से मैंने उसका किया प्रयोग यहाँ अधिराज! ॥१७॥

प्राक्तन नगरों मे अति सुन्दर कौशाम्बी नगरी में वास
करते मेरे पिता, प्रचुर धन का सचय है उनके पास ॥१८॥

युवा अवस्था मे मेरी आँखो मे पीडा हुई अतुल।
पार्थिव! सारा गात्र जलन को पीडा से जल उठा विपुल ॥१९॥

तीखे शस्त्रों को घुसेडता तन-छिद्रो में कुपित अरि।
त्यो मेरी आँखों की पीड़ा अति असह्य होकर उभरी ॥२०॥

कटि मस्तक फिर हृदय वेदना अति दारुण प्रस्फुटित हुई।
इन्द्र-वज्र लगने पर ज्यो वह घोर रूप से उदित हुई ॥२१॥

विद्या-मत्र-चिकित्सक, शास्त्र-कुशल अद्वितीय भिषगाचार्य।
मंत्र-मूल सुविशारद हुए उपस्थित मेरे खातिर आर्य ॥२२॥

ज्यो मेरा हित हो, त्यो चतुष्पाद मय किया इलाज प्रवर।
दुःख-मुक्त कर सके न वे, मेरी अनाथता यह नरवर! ॥२३॥

मेरे पितुवर ने उनको बहुमूल्य वस्तुएँ दी खुलकर।
दुःख-मुक्त कर सके न वे, मेरी अनाथता यह नरवर! ॥२४॥

मेरी माता पुत्र-शोक दुःखार्त्त रो रही बाढ स्वर।
दुःख-मुक्त कर सकी न वह, मेरी अनाथता यह नरवर! ॥२५॥

ज्येष्ठ कनिष्ठ सहोदर मेरे एक-एक से थे बढकर।
दुःख-मुक्त कर सके न वे, मेरी अनाथता यह नरवर! ॥२६॥

मेरी ज्येष्ठ कनिष्ठ भगिनियों ने श्रम किया अतीव प्रखर।
दु.ख-मुक्त कर सकीं न वे, मेरी अनाथता यह नरवर! ॥२७॥

पतिव्रता अनुरक्ता भार्या परिचर्या करती प्रति पल।
अश्रुपूर्ण नेत्रों से मेरा सीच रही थी वक्षस्थल ॥२८॥

खाना पीना स्नान गंध माला व विलेपन को छोड़ा।
मेरे से अज्ञात-ज्ञात में, उसने इनसे मुह मोड़ा ॥२९॥

निशि-वासर में वह मेरे से अलग न होती थी क्षण-भर।
दु.ख मुक्त कर सकी न वह, मेरी अनाथता यह नरवर ॥३०॥

इस प्रकार तब मैंने कहा कि इस अनन्त संसृति मे आखिर।
बार-बार दु सह्य वेदना का अनुभव करना होता चिर ॥३१॥

एक बार इस विपुल वेदना से यदि मुक्त बनूं इस बार।
तो मैं क्षान्त दान्त फिर निरारभ प्रव्रजित बनूं अनगार ॥३२॥

ऐसा चिन्तन कर सो गया नराधिप! आँख मिली तत्क्षण।
निशा अन्त के साथ वेदना का भी अन्त हुआ राजन् ॥३३॥

अरुज हो गया प्रात. तदा पूछ स्वजनो से मैं अविलम्ब।
क्षान्त दान्त फिर निरारम्भ प्रव्रजित बना अनगार अदभ ॥३४॥

तदन्तर मैं अपना तथा अपर मनुजो का नाथ बना।
त्रस-स्थावर सब जीवो का भी नाथ बना संयम अपना ॥३५॥

वैतरणी सरिता आत्मा है कूट शाल्मली तरू आत्मा।
कामदुधा गौ, आत्मा मेरी नन्दन वन भी यह आत्मा ॥३६॥

सुख दु ख की कर्त्ता व विकर्त्ता यह आत्मा है तुम जानो।
सुप्रस्थित दुस्प्रस्थित मित्र अमित्र यही है पहचानो ॥३७॥

सुन मुझसे एकाग्र अचल बन अब अनाथ का अपर स्वरूप।
कायर नर सयम ले, फिर हो जाते शिथिल अनेकों, भूप! ॥३८॥

धार महाव्रत, जो प्रमाद वश सम्यग् पाल नही सकता।
अनियन्त्रित, रस-लोलुप, बन्धन की जड़ काट नही सकता ॥३९॥

ईर्या भाषैषणाऽऽदान निक्षेपोच्चार समितियों मे नर।
सजग न रहता वह न वीर वर-पथ का हो सकता है अनुचर ॥४०॥

अस्थिर-व्रत, तप-नियम-भ्रष्ट जो चिर मुंडन मे रुचि रखकर भी।
चिर क्लेशित हो, वह संसृति का पार न पा सकता है फिर भी ॥४१॥

पोली मुट्ठी, खोटे सिक्के की ज्यो अनियन्त्रित, गुणहीन।
काच-चमक वैडूर्य-भाँति पर विज्ञ दृष्टि मे मूल्य विहीन ॥४२॥

धार कुशील-वेष, ऋषि-ध्वज से जो निज आजीविका चलाता।
हो असाधु, सयत कहलाता वह चिर विनाश को है पाता ॥४३॥

कालकूट विष पीना, उलटा शस्त्र पकड़ना ज्यो घातक है।
विषय-युक्त त्यो धर्म-ग्रहण भी अवश-पिशाच भाँति नाशक है ॥४४॥

लक्षण, स्वप्न, निमित्त-प्रयोग करे, कौतुकासक्त अति रहता।
कुहेट-विद्याश्रव-जीवी न किसी की शरण प्राप्त कर सकता ॥४५॥

वह असाधु अति अज्ञ, कुशील सतत दुखी सयम खोकर।
फिर वह तिर्यक् नरक योनि मे जाता मिथ्यात्वी होकर ॥४६॥

औद्देशिक, नित्याग्र, क्रीत-कृत, अनेषणीय न छोड़े व्रतधर।
अग्नि भाति सब भक्षी मर दुर्गति मे जाता अघ अर्जन कर ॥४७॥

दुष्प्रवृत्ति निज, कठ-छेद अरि से भी अधिक हानिप्रद सत्य।
दयाहीन वह मृत्यु समय अनुशय-सह जानेगा यह तथ्य ॥४८॥

सयम-रुचि है व्यर्थ कि जिसकी उत्तमार्थ मे मति-विपरीत।
इह-परलोक न उसका होता, भ्रष्ट उभयत क्षीण, सभीत ॥४९॥

ऐसे जो स्वछन्द कुशील जिनोत्तम-पथ से विचलित होते।
भोग-रसो में गृद्ध गीध ज्यों व्यर्थ शोक-सतापित होते ॥५०॥

ज्ञान-गुणो से युक्त सुभाषित यह अनुशासन सुन धीमान।
सर्व कुशील मार्ग को तज निर्ग्रन्थ मार्ग मे चले सुजान ॥५१॥

चरिताचार गुणान्वित वर सयम का पालन कर तदनन्तर।
निराश्रवी कर्म क्षय कर ध्रुव मोक्ष स्थल पाता वह मुनिवर ॥५२॥

महा प्रतिज्ञ, यशस्वी, उग्र दान्त व तपोधन उस मुनिवर ने।
विस्तृत कहा इस महानिर्ग्रन्थीय महाश्रुत को व्रतवर ने ॥५३॥

तुष्ट हुआ है श्रेणिक नृप फिर हाथ जोड़ कर ऐसे बोला।
सुष्टु अनाथ स्वरूप यथार्थ बता कर मेरा श्रुति-पट खोला ॥५४॥

नर-भव सफल तुम्हारा, तेरी उपलब्धियाँ हुई सुसफलतर।
तुम हो नाथ, सबांधव क्योंकि जिनोत्तम-पथ में स्थित हो ऋषिवर ॥५५॥

तुम हो नाथ अनाथो के, सब जीवो के हो नाथ सुदीक्षित!
क्षमा चाहता महाभाग! तुम से होना चाहता सुशिक्षित ॥५६॥

मैंने प्रश्न पूछकर जो कि ध्यान मे डाला विघ्न अगाध।
दिया निमत्रण भोगो के हित, क्षमा करो मेरा अपराध ॥५७॥

परम भक्ति से राज सिंह, अनगार सिंह की कर स्तवना।
अन्त.पुर परिजन बान्धव सह विमलचित्त धर्मस्थ बना ॥५८॥

रोम-कूप उच्छ्वसित नराधिप कर प्रदक्षिण मुनि की सत्वर।
मस्तक झुका वन्दना कर फिर चला गया है अपने घर पर ॥५९॥

इधर त्रिदण्ड-विरत, मुनि गुण-समृद्ध त्रिगुप्ति-गुप्त भू पर।
विहग भाँति वे विप्रमुक्त निर्मोह विचरने लगे प्रवर ॥६०॥

इक्कीसवाँ अध्ययन

समुद्रपालीय

चपानगरी मे पालित नामक श्रावक बणिया था एक।
महावीर भगवान महात्मा का सुशिष्य विनयी सुविवेक ॥१॥

वह श्रावक निर्ग्रन्थ शास्त्र-कोविद था जीवन स्तर ऊँचा।
करता वह व्यापार पोत से पिहुण्ड मे जा पहुँचा ॥२॥

वहाँ वणिज करते को किसी बणिक ने निज कन्या ब्याही।
हुई गर्भिणी, तदा उसे ले साथ स्वदेश चला राही ॥३॥

पालित की स्त्री ने समुद्र में प्रसव किया है शुभ सुत का।
वहीं जन्म होने पर नाम रखा कि समुद्रपाल उसका ॥४॥

चम्पा को निर्विघ्न प्राप्त कर वह श्रावक आया घर पर।
सुखपूर्वक सवर्धन होता उस बालक का अपने घर ॥५॥

सीख कलाए द्वासप्तति, फिर नीति-निपुण अति दक्ष बना।
यौवन पाकर रूपवान प्रियदर्शी बना वह मुदितमना ॥६॥

रूपवती रूपिणी वधू को ब्याही उसे पिता ने देख।
रम्य महल मे दोगुन्दक सुर ज्यो क्रीड़ा करता अतिरेक ॥७॥

एक दिवस प्रासाद-गवाक्ष-स्थित उसने पुर को सपेखा।
वध्य-चिन्ह युत एक बध्य को पुर बाहर ले जाते देखा ॥८॥

उसे देख वैराग्य हुआ कि समुद्रपाल ऐसे कहता है।
अहो ! अशुभ कर्मो का यह अवसान दुखद होकर रहता है ॥९॥

वहीं परम सवेग प्राप्त कर वह भगवान प्रबुद्ध हुआ।
मात-पिता को पूछ शीघ्र प्रव्रजित सयमी शुद्ध हुआ ॥१०॥

महाक्लेश भय मोहोत्पादक कृष्ण भयावह सग छोड कर।
व्रत, पर्याय-धर्म, शुभ शील परिषहो मे अभिरुचि ले, यतिवर ॥११॥

सत्य अहिंसा ब्रह्मचर्य अस्तेय व अपरिग्रह मय जान।
पाच महाव्रत धार जिनोक्त धर्म को समाचरे विद्वान ॥१२॥

सब जीवो मे दयानुकम्पी क्षान्ति-क्षम ब्रह्मव्रत धारी ।
समाहितेन्द्रिय सयत तज सावद्य योग, विचरे अविकारी ॥१३॥

स्वात्म बलावल तौल, राष्ट्र मे विचरे समयोचित मुनि भव्य ।
भीम शब्द सुन हरि ज्यो निर्भय कुवचन सुन बोले न असभ्य ॥१४॥

कटु वचनो की करे उपेक्षा, प्रिय अप्रिय सब सहे प्रवर ।
कही न हो आसक्त, न चाहे पूजा, गर्हा को मुनिवर ॥१५॥

नाना अभिप्राय नर में होते हैं, करे नियन्त्रण उन पर ।
सुर नर तिर्यञ्चोत्थित भीषण भीषणतम दुख सहे भिक्षुवर ॥१६॥

विविध दुसह कष्टो से हो जाते खिन्न कई कायर नर ।
किन्तु न दुख से व्यथित बने सयत ज्यो नागराज मोर्चे पर ॥१७॥

दश-मशक शीतोष्ण व तृणस्पर्श, रोगो से तन घिर जाए ।
शान्त भाव से उन्हे सहे, मुनि पूर्वार्जित रज कर्म खपाए ॥१८॥

राग-द्वेष-मोह को सतत छोड़ विचक्षण भिक्षु रहे नित ।
परीषहो को वायु-अकम्पित मेरु भाँति गुप्तात्म सहे नित ॥१९॥

निन्दा, स्तुति मे अवनत उन्नत बने न सयत, विरत गुणी ।
वह अलिप्त, आर्जव अपनाकर शिव-पथ पाता महा मुनि ॥२०॥

सहे अरति-रति को परिचय तज, विरत आत्म-हित संयमवान ।
अभय, अकिंचन, छिन्नशोक, परमार्थ-पद स्थित है गुणवान ॥२१॥

बीजादिक से रहित व महा यशस्वी ऋषियो द्वारा स्वीकृत ।
विजनालय मे रहे, देह से सहे कष्ट त्रायी गुण-सभृत ॥२२॥

वह सद्ज्ञान-ज्ञान सप्राप्त, अनुत्तर धर्मोपचय आचारी ।
प्रधान ज्ञानी नभ मे रवि ज्यो दीप्तिमान होता यशधारी ॥२३॥

सयम-निश्चल, पुण्य-पाप को खपा, सर्वत मुक्त बना ।
सिन्धु-तुल्य भवजल को तैर, समुद्रपाल मुनि सिद्ध बना ॥२४॥

बाईसवाँ अध्ययन

रथनेमीय

सोरियपुर नामक नगरी मे था वसुदेव नाम का भूप।
राज-लक्षणो से संयुक्त, महान ऋद्धिधर रूप अनूप ॥१॥

उसके उभय रानियाँ थी रोहिणी देवकी नाम प्रसिद्ध।
दोनो के दो इष्ट पुत्र थे राम व केशव गुण-समृद्ध ॥२॥

सोरियपुर नगरी मे भूप समुद्रविजय करता था राज्य।
राज लक्षणो से सयुक्त महर्द्धिक, विस्तृत था साम्राज्य ॥३॥

शिवा नामक भार्या उसके महा यशस्वी पुत्र-प्रधान।
हुआ लोक का नाथ दमीश्वर नाम अरिष्टनेमि भगवान ॥४॥

स्वर-लक्षण सयुत शुभ एक हजार आठ लक्षणवाला था।
वह गौतम गोत्री व अरिष्टनेमि फिर श्याम वर्णवाला था ॥५॥

वज्र-ऋषभ सहनन, झषोदर, था वह समचतुस्राऽऽकार।
उसके लिए कृष्ण ने मागी, कन्या राजमती उस बार ॥६॥

वह सब लक्षण युक्त सुशीला चारु-प्रेक्षिणी नृपवर-कन्या।
विद्युत्सौदामिनी प्रभा वाली थी धन्या रूप अनन्या ॥७॥

महा ऋद्धिधर वासुदेव से, उसके पितु ने कहा स्पष्टतर।
आए यही कुमार तदा मैं दे सकता हू कन्या सुन्दर ॥८॥

सर्वोपधिमय जल से नहलाया व किए कौतुक मंगल चिर।
दिव्य वस्त्र युग पहनाया आभरण-विभूषित किया उसे फिर ॥९॥

वासुदेव के मत्त व ज्येष्ठ गध गज पर आरूढ हुआ।
सिर पर ज्यो चूडामणि त्यो वह नेमि सुशोभित अधिक हुआ ॥१०॥

ऊचे छत्र चामरो से वह हुआ सुशोभित नेमि कुमार।
चारों ओर दशार-चक्र से परिवृत, लगता रम्य अपार ॥११॥

क्रमशः चतुररगिनी चमू सज्जित की गई वहाँ पर खास।
नभ-स्पर्शी वाद्यो के दिव्य नाद से गूंज उठा आकाश ॥१२॥

इस प्रकार उत्तम द्युति और ऋद्धि से परिवृत वह उस बार।
अपने खास भवन से निकला नेमि, वृष्णि-पुगव सुकुमार ॥१३॥

उसने जाते हुए वहाँ बाडो व पिंजरो मे अवरुद्ध।
भय-सत्रस्त सुदु.खित प्राणी गण को देखा, जो थे क्षुब्ध ॥१४॥

मरणासन्न दशा को प्राप्त व आमिष-भोजन-हित रक्षित उन।
जीवो को लख, महाप्राज्ञ ने सारथि से यो कहा व्यथित बन ॥१५॥

सुख की इच्छा रखने वाले ये निरीह हैं प्राणी सारे।
वाडो और पिंजरों में अवरुद्ध हुए हैं क्यों वेचारे ॥१६॥

तव सारथि ने कहा तुम्हारे शुभ विवाह के अवसर पर।
वहुजन-भोजनार्थ ये रोके गए भद्र प्राणी प्रभुवर ! ॥१७॥

उस सारथि का वहुत-प्राणी-गण नाशक वचन श्रवण कर अब।
जीवो के प्रति सकरुण महाप्राज्ञ ने मन मे सोचा तव ॥१८॥

बहुत जीव ये मेरे कारण यदि मारे जाएगे आर्य !
तो परभव मे मेरे लिए न यह होगा श्रेयस्कर कार्य ॥१९॥

महा यशस्वी ने तब कुडल युगल और कटि-सूत्र अमोल।
तथा सर्व आभूषण उस सारथि को सौंप दिए झट खोल ॥२०॥

दीक्षा के परिणाम हुए जव सर्व ऋद्धि-परिषद सह देव।
उसका अभिनिष्क्रमण महोत्सव करने को आए द्रुतमेव ॥२१॥

सुर-नर-परिवृत उत्तम शिविका मे आरूढ हुआ गुणखान।
निकल द्वारका से रैवतक शैल पर जा पहुँचा भगवान ॥२२॥

सहस्राश्रमण चैत्य में जा उतरा उत्तम शिविका से तत्र।
नर सहस्र सह अभिनिष्क्रमण किया, तब था चित्रा नक्षत्र ॥२३॥

अपने सुगन्ध-गधित मृदु कुचित केशो का तदन्तर।
पाच मुष्टि से लोच किया स्वयमेव समाहित ने सत्वर ॥२४॥

लुप्तकेश व जितेन्द्रिय से तब कहा जनार्दन ने अनवद्य।
अहो! दमीश्वर! इच्छित स्वीय मनोरथ प्राप्त करो तुम सद्य ॥२५॥

ज्ञान और दर्शन चारित्र तपस्या क्षान्ति मुक्ति से नित्य।
वढते रहो निरन्तर तुम, शिव-पथ पर हे हरिवंशाऽऽदित्य ॥२६॥

केशव, राम, दशार तथा फिर अन्य बहुत से लोग सचोट ।
कर वन्दना अरिष्टनेमि को आए पुरी द्वारका लौट ॥२७॥

जिनवर की दीक्षा को सुन, नृप-कन्या हुई शोक से स्तब्ध ।
हास्यानन्द सभी खो बैठी, राजीमती हुई निःशब्द ॥२८॥

राजिमती ने सोचा है धिक्कार अहो ! मेरे जीवन को ।
उनसे परित्यक्त हू अब दीक्षा लेना श्रेयस्कर मुझको ॥२९॥

कूर्च, फलक से हुए सँवारे अलि सम केशो का चुपचाप ।
लुचन किया, धीर-कृत निश्चय राजिमती ने अपने-आप ॥३०॥

दमितेन्द्रिय लुचित-केशा से वासुदेव बोला उस वार ।
कन्ये ! घोर भवोदधि को शीघ्रातिशीघ्र तर, जा उस पार ॥३१॥

बहुश्रुत शीलवती वह राजीमती वहाँ दीक्षित होकर ।
बहुत स्वजन परिजन को फिर प्रव्रजित किया उसने सत्वर ॥३२॥

वह रैवतक शैल पर जाती हुई वृष्टि से भीग गई ।
घन वारिस व अँधेरा था उस समय गुफा मे ठहर गई ॥३३॥

वस्त्रों को फैलाती हुई नग्न लखकर रथनेमि उसे ।
भग्न चित्त हो गया कि फिर उसने भी देखा शीघ्र उसे ॥३४॥

वहाँ विजन मे एकाकी सयत को लख भयभीत हुई ।
भुज-गुम्फन से वक्ष ढाँक, कापती हुई वह बैठ गई ॥३५॥

उसे कांपती डरती हुई देख नृप-नन्दन ने उस बार ।
उस समुद्र विजयाङ्गज ने वचन कहा उससे अविचार ॥३६॥

भद्रे ! चारु भाषिणि ! सुरूपे ! मैं रथनेमि अतः मुझको ।
कर स्वीकार, सुतनु ! न कभी कोई पीड़ा होगी तुमको ॥३७॥

आ, हम भोगे भोग, सुनिश्चित मनुज-जन्म है दुर्लभतम ।
सुचिर भुक्तभोगी बन, फिर जिन-पथ पर कदम धरेंगे हम ॥३८॥

भग्नोद्योग पराजित रथनेमि को देख, संभ्रान्त नही—
हुई, सती राजुल ने वस्त्रो से निज तन ढँक लिया वही ॥३९॥

फिर वह राजसुता नियम-व्रत मे सुस्थित हो, उससे सद्य ।
शील जाति कुल-रक्षा करते हुए कहा उसने अनवद्य ॥४०॥

अगर रूप से है वैश्रमण व ललित भाव से नलकूबर।
यदि प्रत्यक्ष इन्द्र है तू फिर भी न चाहती तुझे उम्र भर ॥४१॥

[धूमकेतुक दुरासद प्रज्वलित पावक में सही।
अगन्धन कुल-सर्प पडते वान्त फिर लेते नही ॥]

धिग् तुझे है यश कामिन् ! भोग-जीवन के लिए।
वमन पीना चाहता तो मृत्यु शुभ तेरे लिए ॥४२॥

पुत्र अन्धकवृष्णि का तू भोज-पुत्री मैं अहो।
हम न गधन कुल सदृश हों, स्थिरमना सयम वहो ॥४३॥

रागभाव, अगर करेगा तू स्त्रियों को देख कर।
वायु-आहत हट-सदृश अस्थिर बनेगा शीघ्रतर ॥४४॥

भाडपाल या ग्वाला उस धन का न कभी होता स्वामी।
इस प्रकार तू कभी न होगा सयम जीवन का स्वामी ॥४५॥

[क्रोध मान का निग्रह कर माया व लोभ को जीत प्रवर।
इन्द्रिय-गण को वश कर तन को अनाचार से निवृत्त कर ॥]

सुन सुभाषित वचन उस संयमवती के सद्गुणी।
धर्म मे स्थिर हुआ ज्यों अकुश लगे गज-अग्रणी ॥४६॥

मन वच काया से सगुप्त बना दमितेन्द्रिय वह मुनिवर।
दृढव्रती हो निश्चल मन से सयम पाला जीवन-भर ॥४७॥

आखिर हुए केवली दोनो उग्र तपस्या धारण कर।
सब कर्मों को खपा अनुत्तर सिद्धि प्राप्त कर हुए अमर ॥४८॥

बुद्ध पंडित विचक्षण इस भाँति करते हैं सदा।
भोग से होते अलग जैसे कि पुरुषोत्तम मुदा ॥४९॥

तेईसवां अध्ययन

केशी-गौतमीय

धर्म तीर्थ के महा प्रवर्तक जिन सर्वज्ञ लोक-पूजित थे
सबुद्धात्मा पार्श्व नाम के अर्हन् हुए, राग-विरहित थे ॥१॥

लोक-प्रकाशन पार्श्वनाथ के केशी नामक शिष्य हुए।
विद्याचरण पारगामी व यशस्वी कुमार-श्रमण हुए ॥२॥

मति श्रुत अवधिज्ञान-प्रबुद्ध व शिष्य सघ-परिवृत सचरते।
श्रावस्ती पुर मे आए ग्रामानुग्राम वे हुए विचरते ॥३॥

उस नगरी के समीप तिंदुक नाम रम्य उद्यान जहाँ।
प्रासुक शय्या, संस्तारक लेकर ठहरे आचार्य वहाँ ॥४॥

उसी समय मे सर्व लोक-विश्रुत जिन वर्धमान भगवान।
धर्म तीर्थ के महा प्रवर्तक विचर रहे थे, सूर्य समान ॥५॥

लोक-प्रकाशक वर्धमान के महा यशस्वी शिष्य-प्रधान।
विद्याचरण पारगामी गौतम नामक थे वे भगवान ॥६॥

द्वादशाङ्ग-विद् बुद्ध तथा फिर शिष्य-सघ-परिवृत संचरते।
वे भी श्रावस्ती पुर में आए ग्रामानुग्राम विचरते ॥७॥

उस नगरी के समीपवर्ती कोष्ठक नामक था उद्यान।
प्रासुक शय्या सस्तारक ले, ठहरे गौतम वहां सुजान ॥८॥

महायशस्वी केशीकुमार-श्रमण और गौतम गणधर।
आत्म-लीन, सुसमाहित दोनो वहा विचरने लगे प्रवर ॥९॥

उभय ओर के श्रमण तपस्वी शिष्य समूहो को सर्वत्र।
तर्क एक उत्पन्न हुआ त्रायी गुणियो के मन मे तत्र ॥१०॥

धर्म हमारा यह कैसा ? फिर इनका कैसा है यह धर्म।
इनकी व हमारी आचारिक-धर्म-व्यवस्था का क्या मर्म ॥११॥

महा यशस्वी पार्श्वनाथ ने चातुर्याम यह धर्म कहा।
वर्धमान मुनि का फिर यहां पंच-शिक्षात्मक धर्म रहा ॥१२॥

एक अचेलक अपर कीमती वस्त्र व वर्ण विशिष्ट व्यवस्था ।
एक लक्ष्य से चले उभय मे फिर क्यों है यह भेद व्यवस्था ॥१३॥

निज-निज शिष्यो की वितर्कणा को केशी गौतम ने जाना ।
आपस मे मिलना है हमे उन्होने ऐसा दिल मे ठाना ॥१४॥

विनय धर्म की मर्यादा का लख औचित्य ज्येष्ठ कुल जान ।
शिष्य-सघ सह तिंदुक वन मे आए गौतम श्रमण महान ॥१५॥

गौतम ऋषि को आए देख कुमार-श्रमण केशी ने उनका ।
सम्यक् प्रकार से उपयुक्त किया आदर गौतम के गण का ॥१६॥

प्रासुक पयाल और पाचवी कुश नामक दी घास तुरन्त ।
लिए बैठने को गौतम को केशी ने खुश हो अत्यन्त ॥१७॥

केशी कुमार-श्रमण व महायशस्वी गौतम श्रमण सुजान ।
दोनो बैठे हुए हो रहे है शोभित रवि-चंद्र समान ॥१८॥

कौतूहल खोजी फिर अन्य संप्रदायो के साधु अनेक ।
और हजारो गृहस्थ भी आए है वहाँ भीड़ को देख ॥१९॥

देव तथा गन्धर्व यक्ष राक्षस किन्नर दानव संघात ।
और अदृश्य रूप भूतों का वहाँ लगा मेला साक्षात ॥२०॥

महाभाग ! मैं प्रश्न पूछता कहा केशि ने गौतम से जब ।
केशी के कहते-कहते ही यो गौतम ने कहा शीघ्र तब ॥२१॥

जैसी इच्छा हो वैसे पूछो गौतम ने कहा भदन्त !
अनुमति पाकर केशी ने फिर गौतम से यो कहा तुरन्त ॥२२॥

महामुनीश्वर पार्श्वनाथ ने चातुर्याम जो धर्म रहा ।
और पंच-शिक्षात्मक यह जो वर्धमान का धर्म रहा ॥२३॥

एक लक्ष्य के लिये चले हम, फिर क्यो है यह भेद महान ।
द्विधा धर्म होने पर क्यो न तुम्हे सशय होता मतिमान ! ॥२४॥

केशी के कहते-कहते ही गौतम ने यों कहा, समीक्षा—
तत्त्व-निश्चयक धर्म-अर्थ की प्रज्ञा से होती सुपरीक्षा ॥२५॥

आद्य सरल-जड़ तथा वक्र-जड़ अन्तिम जिनके होते संत ।
सरल-प्राज्ञ, होते माध्यमिक अत कि द्विवा है धर्म, भदन्त ! ॥२६॥

दुर्विशोध्य आदिम का कल्प, दुरनुपालक अन्तिम मुनिकल्प ।
और माध्यमिक मुनियों का सुविशोध्य सुपालक होता कल्प ॥२७॥

उत्तम प्रज्ञा तेरी गौतम ! दूर किया यह मेरा संशय ।
एक अपर संशय के बारे मे भी बतलाओ करुणामय ! ॥२८॥

वर्धमान उपदिष्ट धर्म की यहाँ अचेलक धर्म-व्यवस्था ।
महायशस्वी पार्श्वनाथ की वर्ण-विशिष्ट सचेल व्यवस्था ॥२९॥

एक लक्ष्य के लिए चले हम तो फिर यह क्यो भेद महान ।
द्विधालिंग होने पर क्यो न तुम्हे संशय होता मतिमान ! ॥३०॥

केशी के कहते-कहते ही गौतम ने यों कहा, तपोधन !
ज्ञान विशिष्ट ज्ञान से धर्म-साधनो की दी अनुमति, भगवन ! ॥३१॥

लोक-प्रतीति हेतु की गई, विविध वस्त्रो की यहाँ कल्पना ।
यात्रा-हित, ग्रहणार्थ लोक मे, वेष-प्रयोजन है यह अपना ॥३२॥

मोक्ष-साधना की वास्तविक प्रतिज्ञा हो यदि तो निश्चय ही ।
निश्चय नय मे उसके साधन हैं चारित्र ज्ञान दर्शन ही ॥३३॥

उत्तम प्रज्ञा तेरी गौतम ! दूर किया यह मेरा संशय ।
एक अपर संशय के बारे में भी बतलाओ करुणामय ! ॥३४॥

यहा सहस्रो शत्रुगणो के बीच खड़े हो तुम गौतम !
सम्मुख आते तेरे, उन्हे पराजित कैसे किया ? नरोत्तम ! ॥३५॥

एक जीत लेने पर पांच गए जीते, पाँचो से फिर दश ।
दशो जीत कर मैं सब अरियो को कर लेता हूँ अपने वश ॥३६॥

केशी ने गौतम से कहा, कौन कहलाता शत्रु यहां पर ।
केशी के कहते-कहते ही गौतम ने यो कहा वहाँ पर ॥३७॥

एक अजित आत्मा शत्रु है, कषाय इन्द्रिय गण भी दुश्मन ।
उन्हे जीतकर, धर्म नीति पूर्वक विहार कर रहा तपोधन ! ॥३८॥

उत्तम प्रज्ञा तेरी गौतम ! दूर किया यह मेरा संशय ।
एक अपर संशय के बारे मे भी बतलाओ करुणामय ! ॥३९॥

दीख रहे हैं बँधे हुए प्राणी इस जग मे बहुत अहो !
पाश मुक्त, लघुभूत वायु ज्यो कैसे तुम संचरते हो ॥४०॥

उन पाशो को काट सर्वथा, सदुपायों से करके नष्ट ।
पाश-मुक्त, लघुभूत वायु ज्यो विहरन करता हूँ मैं स्पष्ट ॥४१॥

केशी ने गौतम से पूछा कहा गया है पाश किसे ?
केशी के कहते-कहते ही यो गौतम बोले फिर से ॥४२॥

प्रगाढ राग-द्वेष और फिर स्नेह-पाश है महा भयकर ।
उन्हे काटकर धर्म नीतिपूर्वक विहार करता हूँ मुनिवर ! ॥४३॥

उत्तम प्रज्ञा तेरी गौतम ! दूर किया यह मेरा सशय ।
एक अपर सशय के बारे मे भी बतलाओ करुणामय ! ॥४४॥

अन्त स्थल-सभूत लता है जिसके फल लगते हैं विषसम ।
उसे उखाडा कैसे तुमने, बतलाओ मेरे को, गौतम ! ॥४५॥

उस वल्ली को काट सर्वथा जड से उसे उखाड़ स्वत. ।
यथान्याय सचरता हू, विष भक्षण से हू मुक्त अतः ॥४६॥

केशी ने गौतम से पूछा, कहा गया है लता किसे ?
केशी के कहते-कहते ही यो बोले गौतम फिर से ॥४७॥

भीम फलोदय भीषण-भव-तृष्णा को मुनिवर ! लता कहा ।
धर्म नीति अनुसार विचरता हूं मैं उसे उखाड़ यहाँ ॥४८॥

उत्तम प्रज्ञा गौतम ! तेरी, दूर किया यह मेरा सशय ।
एक अपर सशय के बारे में भी बतलाओ करुणामय ! ॥४९॥

शरीरस्थ प्रज्वलित हो रही घोर अग्नियाँ गौतम ! ऐसे ।
जो कि मनुज को जला रही है, तुमने उन्हे बुझाया कैसे ? ॥५०॥

महा मेघ से समुत्पन्न निर्झर के उत्तम जल को लेकर ।
उन्हे सीचता रहता, मुझे सिक्त वे नही जलाती मुनिवर ! ॥५१॥

केशी ने गौतम से पूछा, कहा गया है अग्नि किन्हे ?
केशी के कहते-कहते ही गौतम ने यो कहा उन्हे ॥५२॥

पावक कहा गया कषाय को नीर कहा श्रुत शील व तप को ।
श्रुत-धारा से आहत, तेज-रहित वे नही जलाती मुझको ॥५३॥

उत्तम प्रज्ञा तेरी गौतम ! दूर किया मेरा यह संशय ।
एक अपर सशय के बारे मे भी बतलाओ करुणामय ! ॥५४॥

भीम, साहसिक, दुष्ट अश्व यह गौतम ! दौड़ रहा है सत्वर ।
उस पर चढे हुए हो, क्यो न तुम्हे ले जाता वह उत्पथ पर ? ॥५५॥

हुए भागते को मै उसे बाँध कर श्रुत-लगाम से रखता ।
अत न उत्पथ पर चलता वह नित्य सुपथ पर है संचरता ॥५६॥

केशी ने गौतम से पूछा कहा गया है अश्व किसे ?
केशी के कहते-कहते ही गौतम यो बोले फिर से ॥५७॥

भीम, साहसिक, दुष्ट अश्व मन, दोड़ रहा है इसे शीघ्रतर ।
सम्यक् निज अधीन रखता, हो गया धर्म-शिक्षा से हय वर ॥५८॥

उत्तम प्रज्ञा तेरी गौतम ! दूर किया मेरा यह सशय ।
एक अपर सशय के बारे मे भी बतलाओ करुणामय ! ॥५९॥

कुपथ बहुत हैं जग मे जिनपर पथिक भटक जाते है गौतम !
पथ पर चलते हुए यहाँ फिर कैसे नही भटकते हो तुम ॥६०॥

सत्पथ उत्पथ पर चलने वाले मेरे को सर्व ज्ञात है ।
इसीलिये हे मुने ! मैं नही भटक रहा हू सही बात है ॥६१॥

केशी ने गौतम से पूछा, कहा गया है मार्ग किसे ?
केशी के कहते-कहते ही यो गौतम बोले फिर से ॥६२॥

कुप्रवचन के जो कि व्रती है वे सब उत्पथ पर प्रस्थित हैं ।
जिनाख्यात ही पथ सत्पथ है क्योकि वही सर्वोत्तम पथ है ॥६३॥

उत्तम प्रज्ञा तेरी गौतम ! दूर किया यह मेरा संशय ।
एक अपर सशय के बारे मे भी बतलाओ करुणामय ! ॥६४॥

जल के महावेग मे बहते हुए प्राणियो के खातिर ।
मुने ! शरण, गति, द्वीप, प्रतिष्ठा किसे मानते हो तुम फिर ? ॥६५॥

लम्बा-चौडा महाद्वीप है एक सलिल के बीच यहाँ ।
इस महान जल-प्रवाह की गति स्वल्प मात्र नही जहाँ ॥६६॥

केशी ने गौतम से पूछा, कहा गया है द्वीप किसे ?
केशी के कहते-कहते ही गौतम यो बोले फिर से ॥६७॥

जरा-मरण के महावेग से बहते हुए प्राणियो के हित ।
उत्तम शरण प्रतिष्ठा गतिमय धर्म द्वीप है एक सुरक्षित ॥६८॥

उत्तम प्रज्ञा तेरी गौतम ! दूर किया यह मेरा संशय ।
एक अपर सशय के वारे में भी वतलाओ करुणामय ! ॥६९॥

महौघ अर्णव मे द्रुत गति से नाव जा रही है मँझधार।
उसमे चढे हुए तुम गौतम ! कैसे पहुचोगे उस पार ?॥७०॥

जो छिद्रो वाली नौका, वह कभी न जा पाती उस पार।
लेकिन छिद्रविहीन नाव निर्विघ्न चली जाती उस पार ॥७१॥

केशी ने गौतम से पूछा, कहा गया है नाव किसे ?
केशी के कहते-कहते ही यो गौतम वोले फिर से ॥७२॥

शरीर को नौका व जीव को नाविक कहा गया मतिमान ।
और विश्व को कहा उदधि, तर जाते उसे मुमुक्षु महान ॥७३॥

उत्तम प्रज्ञा तेरी गौतम ! दूर किया मेरा यह संशय।
एक अपर संशय के बारे मे भी वतलाओ करुणामय ! ॥७४॥

अन्ध वनाने वाले तम में, बहुत लोग कर रहे निवास ।
सारे जग में उन जीवों के लिये करेगा कौन प्रकाश ?॥७५॥

समस्त लोक-प्रकाशक एक उगा है विमल भानु नभ में ।
सव जीवों के लिये करेगा वह प्रकाश पूरे जग में ॥७६॥

केशी ने गौतम से पूछा कहा गया है भानु किसे ?
केशी के कहते-कहते ही गौतम यो वोले फिर से ॥७७॥

क्षीण हो चुका भव जिसका उद्गत जिन-भास्कर जो सर्वज्ञ।
सर्वलोक के जीवों के हित वही प्रकाश करेगा प्रज्ञ ॥७८॥

उत्तम प्रज्ञा तेरी गौतम ! दूर किया यह मेरा संशय ।
एक अपर सशय के वारे में भी वतलाओ करुणामय ! ॥७९॥

शारीरिक व मानसिक दुख पीड़ित जीवो के लिये प्रवर !
अनावाध शिव क्षेम स्थल, तुम किसे मानते हो मुनिवर ! ॥८०॥

लोक-शिखर पर शाश्वत एक स्थान है दुरारोह जानो ।
जहाँ नही है जरा-मृत्यु फिर व्याधि-वेदना, पहचानो ॥८१॥

केशी ने गौतम से पूछा, कहा गया है स्थान किसे ?
केशी के कहते-कहते ही गौतम यो बोले फिर से ॥८२॥

जो कि अबाध सिद्धि निर्वाण क्षेम शिव अनाबाध लोकाग्र।
महान के खोजी ही जिसे प्राप्त करते हैं हो एकाग्र ॥८३॥

लोक-शिखर पर शाश्वत रूप अवस्थित दुरारोह वह स्थान।
भवक्षयी मुनि जिसे प्राप्त कर शोक-मुक्त बनते धीमान ॥८४॥

मैं गत सशय हुआ, श्रेष्ठ गौतम तेरी प्रज्ञा अपार है।
सर्व सूत्र-महोदधि ! गत-सशय ! तेरे को नमस्कार है ॥८५॥

घोर पराक्रमधर, केशी यो सशय उपरत होने पर।
महा यशस्वी गौतम का सिर से अभिवादन कर सत्वर ॥८६॥

शुद्ध भाव से पच-महाव्रत-धर्म किया धारण सुविशिष्ट।
पूर्व मार्ग से सुसुखावह पश्चिम पथ मे वे हुए प्रविष्ट ॥८७॥

ज्ञान शील उत्कर्षक केशी गौतमका यह मिलन हुआ।
महा प्रयोजन वाले अर्थों का निर्णायक सिद्ध हुआ ॥८८॥

तुष्ट हुई सब जनता फिर सत्पथ में हुई उपस्थित खुश हो।
परिषद द्वारा बहुत प्रशंसित वे केशी-गौतम प्रसन्न हों ॥८९॥

चौबीसवां अध्ययन

प्रवचनमाता

समिति व गुप्ति स्वरूप आठ प्रवचनमाताएँ हैं सुखकर।
इनमे पाँच समितियाँ है फिर तीन गुप्तियाँ कही प्रवर ॥१॥

इर्या भाषैषणा दान उच्चार समिति पाँचवी कही।
मनोगुप्ति फिर वचनगुप्ति है कायगुप्ति आठवी रही ॥२॥

अति संक्षेपतया ये आठ समितियाँ कही गई इनमें।
जिन भाषित द्वादशाङ्ग-मय प्रवचन है समाविष्ट जिनमें ॥३॥

आलम्बन, फिर काल, मार्ग, यतना, ये कारण चार प्रकार।
इनसे परिशोधित ईर्या ये गमन करे सयत सुविचार ॥४॥

ज्ञान चरण दर्शन आलम्बन हैं फिर दिन को समझो काल।
उत्पथ का वर्जन करता ईर्या का मार्ग कहा सुविशाल ॥५॥

द्रव्य क्षेत्र फिर काल भाव से यतना चार प्रकार कही।
अब उसका वर्णन करता हू मेरे से तुम सुनो सही ॥६॥

आँखो से सपेख द्रव्य से चले क्षेत्र से भू युगमात्र।
जब तक चले काल से, सोपयोग भाव से चले गुण पात्र ॥७॥

तज स्वाध्याय पचधा, फिर इन्द्रिय-विषयो का कर वर्जन।
तन्मय हो दे उसे प्रमुखता सोपयोग मुनि करे गमन ॥८॥

क्रोध, मान, माया व लोभ फिर हास्य, मुखरता, भय, विकथा।
करे प्रयोग न इनका, सावधान होकर मुनि रहे सदा ॥९॥

उपर्युक्त आठो स्थानो का वर्णन कर संयत धीमान।
असावद्य परिमित भाषा बोले मुनि अवसर को पहचान ॥१०॥

गवेषणा फिर ग्रहणेषणा करे परिभोगेषणा-विशोधन।
अशन, उपधि, शय्या के बारे मे इन तीनो का तन्मय बन ॥११॥

पहली मे उद्गम उत्पादन-शुद्धि, एषण-जन्य अपर में।
करे चार दोषों का शोधन मुनि परिभोगेषणा समय मे ॥१२॥

ओघ उपधि या औपग्रहिक द्विधा इन उपकरणों को दान्त।
लेने रखने मे इस विधि का करे प्रयोग श्रमण उपशान्त ॥१३॥

यत्नाशील द्विधा उपकरणो को आँखो से देख तदा।
प्रतिलेखन व प्रमार्जन कर ले, रखे उन्हे मुनि समित सदा ॥१४॥

खेल, प्रस्रवण, शव, उच्चार, मैल, सघाण, उपधि, आहार।
तथा अन्य उत्सर्ग-योग्य को यतना से परठे हर बार ॥१५॥

न आए, देखे न, फिर देखे, वहाँ आए नही।
न देखे, आए तथा आए व देखे भी नही ॥१६॥

अनापात व असलोक परोपघातक जो न हो।
और अशुषिर, सम व अचिर अचित्त स्थंडिल स्थान हो ॥१७॥

विस्तृत, नीचे तक अचित फिर त्रस प्राणी बिल बीज विवर्जित।
पुर अनिकट स्थल मे उच्चार आदि उत्सर्ग करे, गुण अर्जित ॥१८॥

कही गई हैं पाँच समितियाँ ये सक्षिप्ततया सुखकर।
तीन गुप्तिया क्रमश यहा कहूगा उन्हे सुनो यतिवर ॥१९॥

सत्या, मृषा व सत्यामृषा, असत्यामृषा चतुर्थी जान।
मनोगुप्तियाँ चार कही हैं सुनो शिष्य धर ध्यान ॥२०॥

समारम्भ आरम्भ और संरम्भ प्रवर्तमान मन का।
करे निवर्तन, यतनाशील, रखे नित ध्यान श्रमणपन का ॥२१॥

सत्या, मृषा व सत्यामृषा, असत्यामृषा चतुर्थी जान।
वचन गुप्तियाँ चार प्रकार की कही हैं, समझो शिष्य सुजान ॥२२॥

समारम्भ आरम्भ और सरम्भ-प्रवृत्त वचन का सद्य।
करे निवर्तन यतनाशील श्रमण पाले सयम अनवद्य ॥२३॥

उल्लघन व प्रलघन और ठहरने या कि बैठने मे।
पाच इन्द्रियो के व्यापार तथा फिर यहाँ लेटने मे ॥२४॥

समारंभ आरंभ और संरम्भ प्रवर्तमान तन का ।
करे निवर्तन यतनाशील, रखे नित ध्यान श्रमणपन का ॥२५॥

चरण-प्रवर्तन-हित ये पांचो कही समितियाँ श्रमण प्रवीण ।
सर्व अशुभ विषयो से निर्वर्तन-हित कही गुप्तियाँ तीन ॥२६॥

जो इन प्रवचनमाताओ का सम्यक् पालन करता है ।
वह पंडित संसार-चक्र से शीघ्र मुक्त हो जाता है ॥२७॥

पच्चीसवाँ अध्ययन

यज्ञीय

ब्राह्मण-कुल-उत्पन्न एक जयघोष नाम का विप्र वहाँ पर।
महा यशस्वी था वह हिंसाजन्य यज्ञ मे रहता तत्पर ॥१॥

इन्द्रिय-निग्रह करने वाला वह बन गया श्रमण पथगामी।
प्रति ग्राम सचरता वाराणसी पुरी पहुँचा शिवकामी ॥२॥

वाराणसी नगर के बाहर था उद्यान मनोरम नाम।
प्रासुक शय्या सस्तारक ले रहने लगा वहाँ गुणधाम ॥३॥

उसी समय उस पुर मे एक वेद-विज्ञाता रहता था।
विजयघोष नामक वर ब्राह्मण वहाँ यज्ञ वह करता था ॥४॥

एक दिवस जयघोषाऽभिध मुनि मासक्षपण तप-पारण कार्य।
विजयघोष के ब्रह्म यज्ञ मे हुआ उपस्थित वह भिक्षार्थ ॥५॥

निषेध करते हुए कहा याजक ने उसके आने पर।
तुम्हे न भिक्षा दूगा जा अन्यत्र याचना कर मुनिवर ॥६॥

वेद विज्ञ, फिर ज्योतिषाग विद्, धर्मशास्त्र-पारगत ब्राह्मण।
द्विज हैं जो कि यज्ञ के लिए, बना यह उनके खातिर भोजन ॥७॥

निज का, पर का समुद्धार करने मे जो कि समर्थ महान।
भिक्षो ! सर्व काम्य यह अन्न उन्हे प्रदेय है तू पहचान ॥८॥

यो याजक के निषेधने पर उत्तम-अर्थ गवेषक, क्षान्त।
नही हुआ है रुष्ट, तुष्ट वह, रहा महा मुनिवर उपशान्त ॥९॥

अन्न-सलिल या जीवन-यापन हित न कहा मुनि ने कुछ भी।
लेकिन उनके मुक्ति-हेतु यो कहा श्रमण ने वहाँ तभी ॥१०॥

नही जानता वेदो का मुख यज्ञो का मुख तू न जानता।
नक्षत्रो के मुख को तथा धर्म के मुख को भी न जानता ॥११॥

यहाँ स्व-पर का समुद्धार करने मे सक्षम हैं जो विप्र।
नही जानता उन्हे, जानता है तो बता, मुझे तू क्षिप्र ॥१२॥

मुनि के प्रश्नो का उत्तर देने मे वह होकर असमर्थ ।
सह परिषद कर जोड़ महा मुनि से यो द्विज ने पूछा अर्थ ॥१३॥

वेदों का मुख क्या है ? यज्ञों का मुख क्या है ? तुम्हो बताओ ।
नक्षत्रो का मुख क्या है ? धर्मो का मुख क्या है जतलाओ ॥१४॥

निज का पर का समुद्धार करने मे जो सक्षम है साधो !
यह सारा संशय है, मेरे प्रश्नों का तुम समाधान दो ॥१५॥

वेदो का मुख अग्निहोत्र है, यज्ञार्थी यज्ञों का मुख है ।
नक्षत्रो का मुख हिमकर है, काश्यप-जिन धर्मो का मुख है ॥१६॥

ग्रहगण हाथ जोड वन्दन प्रणमन करते रहते शशि-सम्मुख ।
विनय भाव से मनोहरण करते त्यो सभी ऋषभप्रभु-सम्मुख ॥१७॥

जो कि यज्ञवादी हैं वे ब्राह्मण-सपद्—विद्या-अनभिज्ञ ।
भस्माच्छन्न अग्नि ज्यो, तप-स्वाध्याय-गूढ़ बाहर मे, अज्ञ ॥१८॥

जिसे कुशल पुरुषो द्वारा जग मे है कहा गया ब्राह्मण ।
सदा अग्नि ज्यो पूजित जो है, उसको हम कहते ब्राह्मण ॥१९॥

आने पर आसक्त व जाने पर न करे जो शोक श्रमण ।
आर्य-वचन मे रमण करे जो उसको हम कहते ब्राह्मण ॥२०॥

शिखि से तपा हुआ फिर घिसा हुआ होता ज्यो शुद्ध सुवर्ण ।
राग, दोष, भय-वर्जित जो है, उसको हम कहते ब्राह्मण ॥२१॥

[मास-रुधिर-अपचय है जिसके, दान्त तपस्वी जो कृश-तन ।
जो सुव्रत है और शान्त है उसको हम कहते ब्राह्मण ॥]

त्रस स्थावर सब जीवो को जो भलीभाँति पहचान श्रमण ।
मन वच तन से उन्हे न मारे, उसको हम कहते ब्राह्मण ॥२२॥

क्रोध लोभ भय हास्य वशगत हो, न बोलता झूठ वचन ।
त्रिकरण योग सत्यवादी है, उसको हम कहते ब्राह्मण ॥२३॥

जो कि सचित्त अचित्त अल्प या बहुत अदत्त न करे ग्रहण ।
त्रिविध पालता है इस व्रत को उसको हम कहते ब्राह्मण ॥२४॥

सुर, तिर्यञ्च, मनुज-सम्बन्धी मिथुन नही करता सेवन ।
मन वच तन से ब्रह्मचर्य-रत को हम कहते हैं ब्राह्मण ॥२५॥

सलिलोत्पन्न कमल ज्यो जल से लिप्त न होता त्यों मुनिगण ।
भोगों से नित रहे अलिप्त, उसे हम कहते हैं ब्राह्मण ॥२६॥

जो कि अलोल, मुधाजीवी, अनगार अकिंचन है मुनिजन ।
अनासक्त है गृहि-जन मे, उसको हम कहते है ब्राह्मण ॥२७॥

[छोड़ पूर्व सयोग, ज्ञाति बान्धव को तज बना श्रमण ।
उनमे फिर आसक्त न होता, उसको हम कहते ब्राह्मण ॥]

पशु-वध-बन्धन-हेतु वेद सब, पाप-हेतु सब यज्ञ रहे ।
कुशील के ये त्राण न होते, क्योकि कर्म बलवान कहे ॥२८॥

सिर-मुडन से श्रमण व ओम मात्र जप से ना ब्राह्मण होता ।
मुनि न अरण्य-वास से सिर्फ न कुश चीवर से तापस होता ॥२९॥

समभावो से होता श्रमण व ब्राह्मण ब्रह्मचर्य से जान ।
ज्ञान-मनन से मुनि होता, तप से तापस होता गुणवान ॥३०॥

होता मनुज कर्म से ब्राह्मण और कर्म से क्षत्रिय होता ।
होता वैश्य कर्म से ही फिर शूद्र कर्म से ही वह होता ॥३१॥

इन्हें बुद्ध ने प्रकट किया इनसे स्नातक होता है जन ।
जो सब कर्म-मुक्त होता है उसको हम कहते ब्राह्मण ॥३२॥

इस प्रकार गुण-युक्त द्विजोत्तम जो दुनिया में होते हैं ।
निज का पर का समुद्धार करने मे सक्षम होते हैं ॥३३॥

यो सदेह दूर होने पर विजयघोष ब्राह्मण ने आखिर ।
भलीभांति जयघोष महामुनि की वाणी को समझा है फिर ॥३४॥

विजयघोष संतुष्ट हुआ, मुनि से कर जोड़ कहा उसने ।
यथार्थ ब्राह्मणपन का सुन्दर अर्थ मुझे समझाया तुमने ॥३५॥

तुम यज्ञों के यज्ञ-विधाता तुम हो वेदो के विज्ञाता ।
ज्योतिषाग विद् और धर्म के पारगत हो तुम व्याख्याता ॥३६॥

निज का पर का समुद्धार करने मे तुम्ही समर्थ यहां पर ।
अत. अनुग्रह तुम भिक्षा लेने का हम पर करो भिक्षुवर ! ॥३७॥

मुझे न भिक्षा से मतलब है तुम झट दीक्षा ग्रहण करो ।
भय-आवर्त्त घोर संसार-सिन्धु में अब मत भ्रमण करो ॥३८॥

भोगों मे होता उपलेप, अभोगी लिप्त नही हो पाता ।
भोगी जग में करता भ्रमण अभोगी विप्रमुक्त हो जाता ॥३९॥

गीला सूखा मिट्टी के दो गोले फेंके गए भीत पर ।
उनमे जो गीला गोला था चिपक गया वह शीघ्र वही पर ॥४०॥

इस प्रकार दुर्बुद्धि काम आसक्त चिपट जाते विषयों से ।
जो विरक्त सूखे गोले सम, वे न चिपटते हैं विषयो से ॥४१॥

यों जयघोष श्रमण से उत्तम धर्म श्रवण कर महामना ।
अब वह विजयघोष निज गेह छोड कर झट प्रव्रजित बना ॥४२॥

तप सयम से पूर्वार्जित कर्मो को क्षय कर शुद्ध मति ।
विजयघोष जयघोष पा गए शीघ्र अनुत्तर सिद्धि-गति ॥४३॥

छब्बीसवाँ अध्ययन

सामाचारी

सब दुख-मुक्तिप्रदा सामाचारी का यहाँ कहूगा स्फुटतर ।
जिसका आराधन करके तिर गए भवोदधि को झट मुनिवर ॥१॥

पहली आवश्यकी दूसरी नैषेधिकी कही मतिमान ।
आपृच्छना तीसरी प्रतिप्रच्छना चतुर्थी है पहचान ॥२॥

है छन्दना पांचवी फिर है छट्ठी इच्छाकार महान ।
मिथ्याकार सातवी, तथाकार नामक आठवी प्रधान ॥३॥

नौवी अभ्युत्थान व दशवी उपसपदा कही विख्यात ।
मुनियो की यह दशागमय सामाचारी है जिन-आख्यात ॥४॥

करे गमन मे आवश्यकी व नैषेधिकी प्रवेश-काल मे ।
नैज कार्य मे आपृच्छा, प्रतिपृच्छा करे सुकार्य अपर मे ॥५॥

द्रव्यो से छन्दना करे व सारणा में है इच्छाकार ।
प्रतिश्रवण में तथाकार है, अनाचरित मे मिथ्याकार ॥६॥

गुरु-पूजा में अभ्युत्थान, अपर गण के गुरुवर के पास—
रहने हित ले उपसपदा, सामाचारियाँ दश विध खास ॥७॥

प्रथम प्रहर के प्रथम चतुर्थ भाग मे सूर्योदय होने पर ।
भाडोपधि की प्रतिलेखना करे फिर गुरु को वन्दन कर ॥८॥

हाथ जोड़ पूछे गुरु से क्या करना मझे चाहिए भगवन !
सेवा या स्वाध्याय, एक में करें नियुक्त मुझे अब शुभ मन ॥९॥

सेवा में योजित करने पर ग्लानि-रहित हो उसे करे ।
सब दुखहर स्वाध्याय-नियोजित करने पर स्वाध्याय करे ॥१०॥

बुद्धिमान प्रविक्षण सयत दिन के चार विभाग करे ।
उन चारो भागो मे उत्तरगुण की आराधना करे ॥११॥

प्रथम प्रहर मे मुनि स्वाध्याय करे व दूसरे मे फिर ध्यान ।
भिक्षाचरी तीसरे मे चौथे मे फिर स्वाध्याय महान ॥१२॥

है आषाढ मास मे दो पद, चार पाद-मित पौष मास मे।
त्रिपद-प्रमाण पौरुषी होती है, आश्विन फिर चैत्र मास मे ॥१३॥

सात रात मे एकागुल व पक्ष मे दो अगुल परिणाम।
एक मास मे चतुरगुल घटती-बढती छाया पहचान ॥१४॥

शुचि भाद्र व कार्तिक व पौष फाल्गुन व माघ के कृष्ण पक्ष का।
एक रात-दिन कम होता, होता पखवारा चौदह दिन का ॥१५॥

ज्येष्ठादिक त्रिक मे छह आठ अपर त्रिक मे प्रतिलेखन-बेला।
तृतीय मे दश, चौथे त्रिक मे आठ अधिक आगुल पर, चेला! ॥१६॥

बुद्धिमान प्रविचक्षण सयत निशि के चार विभाग करे।
उन चारो भागो मे उत्तरगुण-गण आराधना करे ॥१७॥

प्रथम प्रहर मे मुनि स्वाध्याय करे व दूसरे मे सद्ध्यान।
प्रहर तीसरे मे निद्रा, चौथे मे फिर स्वाध्याय महान ॥१८॥

जो नक्षत्र रात्रि की पूर्ति करे वह नभ के तूर्य भाग मे।
आ जाए तब हो जाए स्वाध्याय-विरक्त, प्रदोष-काल में ॥१९॥

वह नक्षत्र गगन के तूर्य भाग जितना अवशेष रहे जब।
वैरात्रिक वह काल जान, स्वाध्याय-रक्त हो जाए मुनि तब ॥२०॥

दिन के प्रथम प्रहर के तूर्य भाग मे भंड-उपधि प्रतिलेखन—
करके, गुरु वन्दन कर, दुख-नाशक स्वाध्याय करे तन्मय बन ॥२१॥

पौन पौरुपी समय बीतने पर गुरु को वन्दना श्रमण कर।
किए बिना प्रतिक्रमण काल का, भाजन प्रतिलेखना करे फिर ॥२२॥

मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन कर गोच्छक प्रतिलेखना करे।
अगुलि-गृहीत गोच्छक, फिर वस्त्रो की प्रतिलेखना करे ॥२३॥

देख ऊर्ध्व स्थिर रखे वस्त्र को फिर झटकाए उसे तथा।
फिर प्रमार्जना करे तीसरे मे, मुनि करे नही त्वरता ॥२४॥

न नचाए, मोडे न, अलक्षित, स्पर्शित करे नही मुनिवर।
नौ खोटक षट्पूर्व करो से प्राणि-विशोधन करे प्रवर ॥२५॥

आरभटा सम्मर्दा फिर मौशली व प्रस्फोटना कही।
विक्षिप्ता वेदिका दोष छह, प्रतिलेखन मे तजे सही ॥२६॥

प्रशिथिल प्रलम्ब लोल व एकामर्शा अनेक रूप धूनना ।
प्रमाण मे करना प्रमाद शंका होने पर गिनती करना ॥२७॥

अनतिरिक्त अन्यून व अविपरीत प्रतिलेखन है कर्तव्य ।
प्रथम विकल्प प्रशस्त शेष सातों पद अप्रशस्त ज्ञातव्य ॥२८॥

प्रतिलेखना में काम-कथा करता फिर जनपद कथा कभी ।
प्रत्याख्यान कराता पढ़ना स्वयं, पढाना, दोष सभी ॥२९॥

प्रतिलेखन मे जो प्रमत्त होता है वह षट्काय-विराधक ।
पृथ्वी, पानी, तेजस्, मारुत, हरित व त्रस जीवो का घातक ॥३०॥

[प्रतिलेखन मे अप्रमत्त, होता षट् कायो का आराधक ।
भू, अप्, अग्नि, समीर, हरित, त्रस जीव-गणो का नही विराधक ॥]

छहों कारणो मे से कोई एक उपस्थित होने पर ।
अन्न-सलिल की करे एषणा प्रहर तीसरे मे मुनिवर ॥३१॥

क्षुधा-शान्ति-हित वैयावृत्य व ईर्या-हित संयम-हित रोज ।
जीवित रहने-हित व धर्म-चिन्तन-हित करे अशन की खोज ॥३२॥

धैर्यवान साधु व साध्वी गण ये, छह कारण होने पर ।
सयम अनतिक्रमण-हेतु, न करे भोजन की खोज प्रवर ॥३३॥

आतङ्कोपसर्ग मे ब्रह्मचर्य-रक्षा के लिए श्रमण ।
जीव-दया तप हेतु व तन-विच्छेद हेतु न करे भोजन ॥३४॥

सर्व उपधि पात्रो को लेकर देख चक्षु से कर प्रतिलेखन ।
अधिकाधिक आधे योजन तक भिक्षा के हित जाए शुभ मन ॥३५॥

तूर्य प्रहर मे प्रतिलेखन पूर्वक पात्रो को बांध रखे नित ।
फिर वह सर्व भाव-भासक स्वाध्याय करे हो एकान्त स्थित ॥३६॥

तूर्य प्रहर के तूर्य भाग में मुनि स्वाध्याय-विरत होकर ।
गुरु-वन्दन कर शय्या का प्रतिलेखन करता तदनन्तर ॥३७॥

यत्नशील उच्चार-प्रस्रवण-भू की प्रतिलेखना करे ।
तदनन्तर सव दु.ख-विनाशक सुखकर कायोत्सर्ग करे ॥३८॥

दिवस सम्बन्धी अतिचारो का क्रमश. चिन्तन करे मुनि ।
दर्शन ज्ञान चरण मे लगे हुए दोषो को हरे गुणी ॥ ॥३९॥

कायोत्सर्ग पूर्ण कर तदनन्तर गुरु को वन्दना करे।
दिवस-सम्बन्धी अतिचारो की क्रमशः आलोचना करे ॥४०॥

प्रतिक्रमण से शल्य-रहित हो फिर गुरु को वन्दना करे।
ततः सर्व दु.खो को हरने वाला कायोत्सर्ग करे ॥४१॥

कायोत्सर्ग पूर्ण कर फिर गुरु को वन्दना करे धृतिधर।
फिर स्तुति-मगल करके प्रतिलेखना काल की करे प्रवर ॥४२॥

प्रथम प्रहर मे मुनि स्वाध्याय करे व दूसरे मे फिर ध्यान।
प्रहर तीसरे मे निद्रा, स्वाध्याय तूर्य मे करे सुजान ॥४३॥

तत. चतुर्थ प्रहर मे प्रतिलेखना काल की कर गुणवान।
असंयतो को नही जगाता हुआ करे स्वाध्याय महान ॥४४॥

तूर्य प्रहर के तूर्य भाग मे मुनि स्वाध्याय विरत होकर।
गुरु को कर वन्दना, काल की प्रतिलेखना करे यतिवर ॥४५॥

सब दुखहारी कायोत्सर्ग समय होने पर साधक वर्ग।
करे सर्व दु खो को हरनेवाला, सुखकर कायोत्सर्ग ॥४६॥

निशि सम्बन्धी अतिचारो का क्रमशः चिन्तन करे गुणी।
दर्शन ज्ञान चरण तप के अतिचारों को फिर हरे मुनी ॥४७॥

कायोत्सर्ग पूर्ण कर तदनन्तर गुरु को वन्दना करे।
फिर वह रात्रिक अतिचारों की क्रमश. आलोचना करे ॥४८॥

प्रतिक्रमण कर शल्य-रहित हो फिर गुरु को वन्दना करे।
तत. सर्व दु खो को हरने वाला कायोत्सर्ग करे ॥४९॥

तप कौन सा करूँ मैं यो ध्यान-स्थित चिंतन करे प्रवर।
कायोत्सर्ग पूर्ण कर फिर गुरु को वन्दना करे यतिवर ॥५०॥

कायोत्सर्ग पूर्ण कर गुरु को करे वन्दना तदनन्तर।
तप को कर स्वीकार तत सिद्धो की स्तवना करे प्रवर ॥५१॥

यह सक्षिप्त कही है मैंने सामाचारी सुखद सुजान।
इसे धार कर जीव बहुत भवसागर को तिर गए महान ॥५२॥

सताईसवाँ अध्ययन

खलुंकीय

शास्त्र-विशारद गणधर स्थविर गर्ग मुनि गुणाकीर्ण विद्वान ।
गणी पदस्थित हो करता था वह समाधि का प्रति सधान ॥१॥

करते हुए वहन वाहन को वृष के वन होता उल्लघित ।
योग-वहन करते मुनि के संसार स्वय त्यो होता लघित ॥२॥

दुष्ट बैल का योजक आहत करता हुआ क्लेश पाता ।
अनुभवता असमाधि व उसका चाबुक शीघ्र टट जाता ॥३॥

बार-बार बीधता किसी को किसी एक की पूछ काटता ।
समिल तोडकर कोई दुष्ट वृषभ तव उत्पथ मे चल पडता ॥४॥

करवट ले गिर पडता, सो जाता व बैठ जाता कोई ।
उछल-कूद कर तरुण गाय की ओर भागता शठ कोई ॥५॥

कपटी सिर निढाल कर लुटता, कोई क्रोधित प्रतिपथ चलता ।
मृत की ज्यो गिरता कोई द्रुतगति से बैल भागता ॥६॥

रास काट देता छिनाल, दुर्दान्त जुए को देता तोड ।
सौ-सौं कर वाहन को छोड़ बैल कोई जाता है दौड़ ॥७॥

धर्मयान-योजित कुशिष्य भी दुष्ट-योज्य वृष की ज्यो होते ।
धर्मयान को तोड़ गिराते जो दुर्बल-धृति वाले होते ॥८॥

कोई शिष्य ऋद्धि का गौरव कोई रस-गौरव करता है ।
कोई साता गौरव करता कोई सुचिर क्रोध करता है ॥९॥

भिक्षा मे आलस्य करे कोई अपमान-भीरु अभिमानी ।
हेतु कारणो से अनुशासित करते किसही को गुरु ज्ञानी ॥१०॥

तब बोलता बीच मे कोई मन मे प्रकट द्वेष करता है ।
वार-बार गुरु के वचनो के विरुद्ध मे कोई चलता है ॥११॥

वह न जानती मुझे, न देगी मुझे, जानता हूँ वह बाहर—
चली गई होगी, मैं ही क्यो ? कोई अन्य चला जाए फिर ॥१२॥

प्रेषित करते हैं अपलाप, सर्वतः परिभ्रमण करते है।
नृप-बेगार मान करते हैं कार्य व मुँह मचोट लेते है ॥१३॥

दीक्षित शिक्षित उन्हें किया फिर भोजन-पानी से परिपुष्ट।
ज्यो कि पाँख आनेपर हस विविध दिशि में, त्यों फिरते दुष्ट ॥१४॥

खिन्न कुशिष्यो से होकर आचार्य सोचते हैं दुःखाकुल।
दुष्ट कुशिष्यो से क्या मुझे ? व मेरी आत्मा होती व्याकुल ॥१५॥

जैसे गलिगर्दभ होते है वैसे मेरे हैं कुशिष्य सब।
इन गलिगर्दभ शिष्यों को तज, दृढ़ मन तप को ग्रहण किया तब ॥१६॥

मृदु मार्दव सम्पन्न महात्मा सुसमाहित गभीर महान।
शील युक्त होकर पृथ्वी पर लगा विचरने वह मतिमान ॥१७॥

अठाईसवाँ अध्ययन

मोक्ष-मार्ग-गति

दर्शन-ज्ञान चिन्हवाली फिर चार कारणो से संयुक्त ।
तथ्य जिनोक्त मोक्ष-पथ की गति को मुझ से सुन हो उपयुक्त ॥१॥

ज्ञान तथा दर्शन चारित्र व तप जो विविध प्रकार रहा ।
वरदर्शी जिनवर ने मोक्ष-मार्ग यह चार प्रकार कहा ॥२॥

ज्ञान व दर्शन तथा चरण तप मय निर्मल पथ को अपनाकर ।
प्राणी गण सद्‌गति मे जाते है अघमल को दफनाकर ॥३॥

तत्र पंचधा ज्ञान यथा—श्रुत ज्ञान व आभिनिबोधिक ज्ञान ।
अवधि ज्ञान तीसरा, मनोज्ञान फिर अन्तिम केवल ज्ञान ॥४॥

द्रव्य तथा गुण की समस्त पर्यायो का अवबोधक ज्ञान ।
ज्ञानी पुरुषो ने यह पाच प्रकार कहा है ज्ञान महान ॥५॥

द्रव्य गुणाश्रय को कहते हैं एक द्रव्य आश्रित गुण है ।
दोनो के आश्रित रहना यह पर्यायो के लक्षण है ॥६॥

धर्माधर्माकाश काल फिर पुद्‌गल अन्तिम जीव रहा ।
वरदर्शी अर्हन्तो ने यह षट्-द्रव्यात्मक लोक कहा ॥७॥

धर्माधर्माकाश तीन ये एक-एक हैं द्रव्य महान ।
काल जीव पुद्‌गल ये तीन अनन्त-अनन्त द्रव्य पहचान ॥८॥

गति-लक्षण है धर्म तथा स्थिति-लक्षण रूप अधर्म कहा ।
सब द्रव्यो का भाजन यह अवगाह-लक्ष्य आकाश रहा ॥९॥

काल वर्तना लक्षण है उपयोग लक्ष्य वाला है जीव ।
ज्ञान व दर्शन सुख-दुख से पहचाना जाता शीघ्र सजीव ॥१०॥

ज्ञान तथा दर्शन चारित्र व तप उपयोग वीर्य पहचान ।
ये सब लक्षण कहे जीव के शिष्य सुनो देकर अब ध्यान ॥११॥

शब्द, ध्वान्त, उद्योत, प्रभा, छाया, फिर आतप है मतिमान ।
वर्ण, गंध, फिर रस, स्पर्श ये पुद्‌गल के हैं चिन्ह महान ॥१२॥

है पृथक्त्व, एकत्व व सख्या और सभी संस्थान सही।
पर्यायों के लक्षण ये सयोग विभाग कहे सब ही ॥१३॥

जीव, अजीव पुण्य पापाश्रव संवर और निर्जरा जान।
बन्ध मोक्ष ये है नौ तत्त्व इन्हे तू भलीभाँति पहचान ॥१४॥

इन सब तथ्य भाव सद्भाव-निरूपण मे जो अन्त.स्थल से।
श्रद्धा करता है सम्यक्त्व, उसे होता, सुकथित प्रभुवर से ॥१५॥

निसर्ग रुचि, उपदेश व आज्ञा, सूत्र, बीज, अभिगम रुचि है।
फिर विस्तार, क्रिया, सक्षेप तथा फिर समझ धर्म-रुचि है ॥१६॥

आत्म-जन्य यथार्थ ज्ञान से जीव-अजीव पुण्य फिर पाप।
आश्रव सवर पर श्रद्धा करता वह निसर्ग-रुचि है साफ ॥१७॥

अर्हद्-दृष्ट चतुर्विध से तत्त्वो पर रखे स्वयं विश्वास।
एवमेव अन्यथा नही, ज्ञातव्य निसर्ग-रुचि वही खास ॥१८॥

उपर्युक्त भावों को जिन या छद्मस्थो से सुन मतिमान।
उन पर श्रद्धा करे उसे उपदेश-रुचि कहा है पहचान ॥१९॥

राग, द्वेष तथा अज्ञान व मोह दूर हो जाने पर।
वीतराग की आज्ञा मे रुचि रखता वह आज्ञा-रुचिवर ॥२०॥

अंगबाह्य या अगप्रविष्ट सूत्र को पढ़ता हुआ सुजान।
जो पाता सम्यक्त्व उसी का नाम सूत्र-रुचि है पहचान ॥२१॥

एक तत्त्व से अनेक तत्त्वो में फैलता यहाँ सम्यक्त्व।
जल मे तैल-बिन्दु की ज्यो सम्यक्त्व बीज-रुचि है ज्ञातव्य ॥२२॥

ग्यारह अंग, प्रकीर्णक, दृष्टिवाद आदिक आगम शुचि है।
अर्थ-सहित है श्रुतज्ञान जिसको, वह नर अभिगम-रुचि है ॥२३॥

सभी प्रमाण व सब नय विधियो से द्रव्यो के सभी भाव फिर।
है उपलब्ध जिसे वह कहलाता विस्तार-सुरुचि वाला नर ॥२४॥

दर्शन ज्ञान चरण-तप विनय सत्य समिति व गुप्ति मे जान।
क्रिया भावरुचि है जिसकी वह क्रिया-सुरुचि सम्यक्त्व महान ॥२५॥

अनभिगृहीत कुदृष्टि व जिन-प्रवचन अविशारद परम शुचि।
परमत अज्ञ व स्वल्प ज्ञान से श्रद्धानत सक्षेप-रुचि ॥२६॥

जो जिन-सुकथित अस्तिकाय श्रुत-चरण-धर्म मे पूर्णतया ।
श्रद्धा रखता उसे धर्म-रुचि समझो, जिसके हृदय दया ॥२७॥

परम-अर्थ-परिचय, सुदृष्ट परमार्थ निसेवन है पहचान ।
फिर व्यापन्न-कुदर्शनीक-वर्जन, सम्यग्दर्शन-श्रद्धान ॥२८॥

दर्शन विना न चरण, चरण की दर्शन मे भजना पहचान ।
दोनो सह होते, न जहाँ सह होते पहले दर्शन जान ॥२९॥

अदर्शनी के ज्ञान न होता बिना ज्ञान चारित्र नही ।
बिना चरण-गुण मुक्ति नही, पाता अमुक्त निर्वाण नही ॥३०॥

नि शका निष्कांक्षा निर्विचिकित्सा अमूढदृष्टि स्पष्ट है ।
उपवृहण वात्सल्य व स्थिरीकरण प्रभावना अग अष्ट है ॥३१॥

सामायिक है पहला छेदोपस्थान दूसरा कहा ।
फिर परिहार-विशुद्धिक तथा सूक्ष्म-सपराय तूर्य रहा ॥३२॥

यथाख्यात अकषाय चरण छद्मस्थ व जिनवर के होता है ।
कर्म रिक्त करते हैं अत. इन्हे चरित्र कहा जाता है ॥३३॥

बाह्याऽभ्यन्तर विभेद से तप दो प्रकार से अभिहित है ।
षड् विध तप है बाह्य तथा आभ्यन्तर तप भी षड् विध है ॥३४॥

तत्त्वो को जानता ज्ञान से, दर्शन से श्रद्धा करता है ।
निग्रह करता है चरित्र से, तप से जीव शुद्ध बनता है ॥३५॥

जो महर्षि-गण सब दुख प्रक्षीणार्थ पराक्रम हैं नित करते ।
संयम तप से पूर्वार्जित कर्मों को खपा, सिद्धि को वरते ॥३६॥

उनतीसवाँ अध्ययन

सम्यक्त्व-पराक्रम

भगवत्-प्रतिपादित मैंने यो यहा सुना आयुष्मन् ! निश्चय।
यह सम्यक्त्व-पराक्रम नामाऽध्ययन इसे सुन होकर तन्मय ॥१॥

महावीर भगवान श्रमण काश्यप से जो कि प्रवेदित सुन्दर।
जिसमे सम्यक् श्रद्धा दृढ कर तथा प्रतीति और रुचि रखक ॥२॥

स्पर्शन कर, स्मृति मे रखकर व हस्तगत कर व निवेदन कर।
शोधन-आराधन कर अर्हद् की आज्ञा से पालन कर ॥३॥

जीव अनेकों सिद्ध-बुद्ध होते हैं मुक्त शुद्ध अत्यन्त।
वे निर्वाण प्राप्त करते हैं सब दु.खो का करके अन्त ॥४॥

कहा गया है उसका इस प्रकार से सम्यग् अर्थ यथा—
है सवेग[1] और निर्वेद[2] व अटल धर्म-विश्वास[3] तथा ॥५॥

गुरु-साधर्मिक[4] की सेवा फिर आलोचना[5] व निन्दा[6] जान।
गर्हा[7] सामायिक[8] व चतुर्विंगति-स्तवना[9] वन्दन[10] पहचान ॥६॥

प्रतिक्रमण[11] फिर कायोत्सर्ग[12] तथा फिर प्रत्याख्यान[13]-वरण।
स्तव-स्तुति-मंगल[14] तथा काल-प्रतिलेखन[15], प्रायश्चित्त-करण[16] ॥७॥

क्षमापना,[17] स्वाध्याय,[18] वाचना[19], प्रतिप्रच्छन्ना,[20] मोक्ष का साधन।
परावर्तना[21] फिर अनुप्रेक्षा,[22] धर्मकथा,[23] श्रुत का आराधन[24] ॥८॥

मनकी एकाग्रता[25] व सयम,[26] तप,[27] व्यवदान,[28] सुखेच्छा-त्याग[29]।
अप्रतिवद्धता,[30] विविक्त-शयनासन,[31] फिर विनिवर्तना[32] सुभाग ॥९॥

है संभोग-त्याग[33] फिर उपधि-त्याग[34] है अशन-त्याग[35] सुखकार।
कषाय-त्याग[36] योग का त्याग[37] फिर शरीर-त्याग[38] उदार ॥१०॥

सहायत्याग[39] भक्त-परित्याग[40] तथा सद्भाव[41] त्याग उत्कृष्ट।
प्रतिरूपता[42] व वैयावृत्य[43] सर्वगुण-सपन्नता[44] विशिष्ट ॥११॥

---

१ १ से लेकर ७३ तक की यह क्रमिक सख्या सम्यक्त्व-पराक्रम के अर्थाङ्गो की है।

वीतरागता,[४५] क्षान्ति,[४६] मुक्ति,[४७] आर्जव,[४८] मार्दव[४९] फिर भाव-सत्य[५०] है।
करण-सत्य[५१], फिर योग-सत्य[५२], मन[५३] वचन[५४] देह[५५] की गुप्ति तथ्य है ॥१२॥

मन[५६] व वचन[५७] तन-समाधारणा[५८], ज्ञान[५९] व दर्शन[६०] चरण[६१] पूर्णता।
श्रोत्र-[६२]चक्षु[६३] फिर घ्राण[६४]-रसन-[६५]स्पर्शन[६६]-इद्रियनिग्रह निर्मलता ॥१३॥

क्रोध[६७] मान[६८] माया[६९] व लोभ[७०] जय, राग-दोष-मिथ्यादर्शन-जय[७१]।
शैलेशी[७२] फिर अकर्मता[७३] ये इसके द्वार कहे हैं सुखमय ॥१४॥

सुसंवेग[१] से हे भगवन्! यह जीव प्राप्त क्या करता है?
सुसवेग से परमधर्म-श्रद्धा को जागृत करता है ॥१५॥

परमधर्म की श्रद्धा से फिर वह सवेग अधिक पाता है।
अनतानुबधी क्रोध, मान, कपट व लोभ क्षय कर पाता है ॥१६॥

नये कर्म बाधता नही व कषाय-क्षीण से मिथ्यादर्शन—
की विशुद्धि कर फिर करता है सम्यग्दर्शन का आराधन ॥१७॥

दर्शन-शुद्धि-विशुद्ध कई उस भव मे हो जाते है सिद्ध।
किन्तु तीसरे भव का तो अतिक्रमण न कर सकते सशुद्ध ॥१८॥

सुनिर्वेद[२] से भगवन्! यहाँ प्राप्त क्या करता है फिर प्राणी।
इससे सुर-नर-तिर्यग जनित कामभोगो से होती ग्लानी ॥१९॥

सब विपयो से विरक्त हो आरम्भ-त्याग फिर करता सद्य।
ससृति-पथ का कर विच्छेद, सिद्धि-पथ अपनाता अनवद्य ॥२०॥

धार्मिक-श्रद्धा[३] से हे भगवन! प्राणी किस फल को है पाता?
इससे विषय-सुखो की गृद्धि छोड, मानव विरक्त हो जाता ॥२१॥

तत गृहस्थी त्याग सर्वथा, वह होकर अनगार प्रमुख।
छेदन-भेदन सयोगादिक शरीरिक व मानसिक दुख ॥२२॥

इन उपरोक्त सभी दुखो का वह करके विच्छेद तुरन्त।
अव्याबाध सुखो को श्रमण प्राप्त कर, लेता भव का अन्त ॥२३॥

गुरु[४] साधर्मिक की सेवा से भन्ते! प्राणी क्या पाता?
गुरु साधर्मिक सेवा से वह विनय धर्म को अपनाता ॥२४॥

---

१ १ से ७१ क्रमाक सम्यक्त्व-पराक्रम विषयक ७१ प्रश्नोत्तर के सूचक हैं।

विनय प्राप्त कर गुरु की आशातना नही करता गत-शोक।
नरक व तिर्यंग् सुर-नर सम्बन्धी दुर्गति को देता रोक ॥२५॥

कीर्ति, भक्ति, बहुमान व गुण-प्रकाशन द्वारा वह सिरमोर।
सुर-नर सबधी सद्गति से अपना नाता लेता जोड़ ॥२६॥

सिद्धि सुगति शोधन व विनयमूलक सब प्रशस्त कार्यो को नर।
करता, अन्य बहुत जीवो को विनय-मार्ग पर ले आता फिर ॥२७॥

आलोचना[५] स्वय की करने से क्या फल पाता है सत्त्व।
इससे अनन्त भव-वर्धक फिर मोक्ष-मार्ग घातक जो तत्त्व ॥२८॥

दंभ निदान व मिथ्यादर्शन शल्यो को फेकता निकाल।
और प्राप्त करता है वह ऋजु-भाव, यहा सब तज जजाल ॥२९॥

सरल भाव को प्राप्त हुआ वह मनुज अमायी स्त्री व नपुसक—
वेद कर्म का वन्ध न करता पूर्व-बद्ध क्षय करता साधक ॥३०॥

निज निन्दा[६] का क्या फल भगवन! इससे होता पश्चाताप।
उससे विराग प्राप्त, करण-गुणश्रेणी पाता अपने-आप ॥३१॥

और करण-गुणश्रेणी प्राप्त श्रमण करता फिर तीव्र प्रयास।
जिसके द्वारा वह मुनि फिर कर देता मोह कर्म का नाश ॥३२॥

गर्हा[७] से क्या फल मिलता? गर्हा से प्राप्त अनादर होता।
उससे वह फिर अप्रशस्त योगो से सत्वर निवृत्त होता ॥३३॥

फिर प्रशस्त योगो से सयुक्त होकर वह अनगार महा।
अनन्तघाती परिणतियो को कर देता है क्षीण वहाँ ॥३४॥

सामायिक[८] से हे भगवन्! यह जीव यहाँ क्या फल पाता?
सामायिक से वह सावद्य योग से उपरत हो जाता ॥३५॥

भगवन्! चतुर्विशति-स्तव[९] से जीव यहाँ क्या फल पाता है?
चतुर्विंशति स्तव से वह दर्शन-विशुद्धि को अपनाता है ॥३६॥

गुरु-वन्दन[१०] से भगवन्! जीव प्राप्त क्या करता सुगुण प्रवर?
गुरु-वन्दन से नीच-गोत्र कर्मों को क्षय करता सत्वर ॥३७॥

उच्च-गोत्र का बन्ध न करता फिर सौभाग्य अबाधित प्राप्त।
अप्रतिहत आज्ञा-फल, दक्षिण भाव उसे होता फिर प्राप्त ॥३८॥

प्रतिक्रमण[11] से भगवन् ! जीव प्राप्त क्या करता सुगुण महान ?
प्रतिक्रमण से व्रत के छिद्रो का रुन्धन करता धीमान ॥३९॥

व्रत-छिद्रो को ढँकने वाला, आश्रव-गण को देता रोक ।
चरित्र के धब्बो को शीघ्र मिटा देता है वह गत-शोक ॥४०॥

और आठ प्रवचनमाताओ में हो सावधान सचरता ।
सम्यक् सयम मे तल्लीन व समाधिस्थ हो, विहरन करता ॥४१॥

कायोत्सर्ग[12] क्रिया से किस फल को पाता है जीव तपोधन !
इससे अतीत सांप्रत के अतिचारो का करता सुविशोधन ॥४२॥

नीचे रखने वाले भारवाह की ज्यो फिर हलका बनता ।
प्रशस्त ध्यान लीन हो क्रमश सुखपूर्वक वह विहार करता ॥४३॥

प्रत्याख्यान-क्रिया[13] से भगवन् ! जीव प्राप्त फिर क्या करता है ?
प्रत्याख्यान-क्रिया से आश्रव द्वारो का रुन्धन करता है ॥४४॥

स्तवना-स्तुति-मगल[14] से क्या फल प्राणी पाता है भगवन् ! ?
इससे दर्शन ज्ञान चरण की बोधि लाभ करता शुभ मन ॥४५॥

ऐसा बोधि-लाभ वाला वह मोक्ष प्राप्त करता है आखिर ।
वैमानिक सुर बनने लायक करता आराधना या कि फिर ॥४६॥

काल-प्रतिलेखना[15] जीव को क्या फल देती है भगवन् !
ज्ञानावरणीय कर्म को इससे करता है क्षीण श्रमण ॥४७॥

प्रायश्चित्त-क्रिया[16] से भगवन् ! प्राणी किस फल को पाता ?
शुद्धि पाप की करता इससे निरतिचार फिर बन जाता ॥४८॥

सम्यक् प्रायश्चित्त विधायक, दर्शन-ज्ञान-विशोधन करता ।
फिर चारित्र व उसके फल की आराधना सफल वह करता ॥४९॥

प्रभो ! क्षमा[17] करने से प्राणी किस फल को करता है प्राप्त ?
जीव क्षमा करने से झट प्रल्हाद-भाव को करता प्राप्त ॥५०॥

वर प्रल्हाद-भाव से प्राण-भूत सब जीव सत्व मे अभिनव ।
मित्र-भाव होता फिर भाव-शुद्धि कर निर्भय बनता मानव ॥५१॥

हे भगवन् ! स्वाध्याय-क्रिया[18] से जीव लाभ क्या करता प्राप्त ?
इससे ज्ञानावरणीय कर्म को कर देता है शीघ्र समाप्त ॥५२॥

पूज्य-वाचना[19] से यह जीव प्राप्त क्या करता लाभ महा ?
कर्म-निर्जरा करता शास्त्र-वाचना से यह लाभ कहा ॥५३॥

श्रुत के वाचन से फिर श्रुत की आशातना नही वह करता।
अनाशातना-शील श्रमण फिर धर्म-तीर्थ अवलम्बन करता ॥५४॥

धर्म तीर्थ अवलम्बन करता हुआ, महान निर्जरा वाला—
होता है फिर महान पर्यवसान यहाँ वह करने वाला ॥५५॥

भन्ते! प्रतिप्रश्न[20] करने से जीव प्राप्त क्या है करता ?
उससे सूत्र-अर्थ, फिर तदुभय जनित सशयो को हरता ॥५६॥

और यहाँ फिर करता काक्षा-मोहनीय अघ-कर्म-विनाश।
प्रतिप्रश्न से क्रमश. हो जाता आत्मा का पूर्ण विकास ॥५७॥

परावर्तना[21] से भगवन्! प्राणी किस फल को है पाता ?
इससे व्यंजन अथवा व्यजन-लब्धि प्राप्त वह हो जाता ॥५८॥

अनुपेक्षा[22] से क्या फल मिलता ? इससे आयुकर्म को तजकर।
सातों कर्म-प्रकृति के दृढ बन्धन को शिथिल बनाता है नर ॥५९॥

दीर्घकाल स्थिति वालो की फिर ह्रस्व काल स्थिति वह कर देता।
और तीव्र रस वालो को मदानुभाव वाले कर देता ॥६०॥

बहुत प्रदेशी हो तो अल्प प्रदेशी उन्हे बना देता है।
आयुकर्म का बन्ध कदाचित् होता, न कदाचित् होता है ॥६१॥

बारम्बार असात वेदनीय का नही उपचय वह करता।
दीर्घ अनादि अनन्त चतुर्गति भव-वन झट उल्लघन करता ॥६२॥

धर्मकथा[23] से क्या फल ? भगवन्! इससे कर्म निर्जरा करता।
धर्मकथा से जिन-प्रवचन की उज्ज्वल प्रभावना वह करता ॥६३॥

जिन-प्रवचन को प्रभावना से फिर भविष्य मे जीव यहाँ पर।
मगलकारी कर्मों का अर्जन करता है अघ-मल धो कर ॥६४॥

श्रुताराधना[24] से भगवन्! प्राणी किस फल को करता प्राप्त ?
श्रुताराधना से अज्ञान-विलय होता फिर दु.ख समाप्त ॥६५॥

एक अग्र पर मन को स्थापित करने पर[25] क्या मिलता ? प्रभुवर!
इससे वह फिर चपल चित्त का निरोध कर देता है सत्वर ॥६६॥

सयम[२६] से किस फल की भगवन ! होती है सप्राप्ति यहाँ ?
संयम से आश्रव का वह निरोध करता, यो स्पष्ट कहा ॥६७॥

भगवन् ! तप[२७] से किस फल को करता है जीव यहाँ सप्राप्त ?
तप से पूर्वार्जित कर्मों को कर देता है शीघ्र समाप्त ॥६८॥

शुभ व्यवदान[२८] क्रिया से भगवन ! प्राणी क्या फल पाता है ?
इस व्यवदान क्रिया से वह अक्रियावान बन जाता है ॥६९॥

मनुज अक्रियावान सिद्ध फिर बुद्ध, मुक्त हो जाता है।
होता परिनिर्वाण अन्त सब दु खो का कर पाता है ॥७०॥

सुख की स्पृहा निवारण करने पर[२९] क्या जीव प्राप्त करता ?
इससे विषयो के प्रति सद्य अनुत्सुक भाव प्राप्त करता ॥७१॥

जीव अनुत्सुक अनुकम्पा करने वाला होता उपशान्त।
शोक-मुक्त हो क्षय करता चारित्र मोह को सहज प्रशान्त ॥७२॥

अप्रतिवद्धता[३०] से भन्ते ! किस फल को पाता जीव प्रवर ?
अप्रतिवद्धता से हो जाता वह असग, प्राणो सत्वर ॥७३॥

इससे मनुज अकेला हो एकाग्र-चित्त वाला है बनता।
वाह्य सग तज निशि-दिन वह प्रतिबध-रहित होकर सचरता ॥७४॥

भन्ते ! विविक्त-शयनासन-सेवन[३१] से जीव प्राप्त क्या करता ?
विविक्त-शयनासन-सेवन से वह चारित्र सुरक्षित रखता ॥७५॥

चरित्र-रक्षक, नीरसभुग्, दृढ चरित्रवान, विजन-रत, त्राता।
मोक्ष-भाव प्रतिपन्न अष्टविध कर्म ग्रन्थियाँ तोड गिराता ॥७६॥

विनिवर्तना[३२] मनुज को भगवन् ! क्या फल देती है बरतर ?
इससे पाप कर्म करने मे जीव नही होता तत्पर ॥७७॥

फिर पूर्वार्जित पाप कर्म को क्षय कर देता तदनन्तर।
गति चतुष्क भव-अटवी के उस पार चला जाता है नर ॥७८॥

क्या फल मिलता है सभोग-त्याग[३३] से प्राणी को ? गुरुदेव !
इससे मानव परावलम्वन को तज देता है स्वयमेव ॥७९॥

निरावलम्वी के प्रयत्न सब होते मोक्ष-सिद्धि के खातिर।
वह स्वलाभ मे ही सतुष्ट बना रहता है श्रमण यहाँ फिर ॥८०॥

परलाभाऽऽस्वादन व कल्पना, स्पृहा, प्रार्थना, आशा तजकर।
श्रमण दूसरी सुख-शय्या धारण कर विहार करता भू पर ॥८१॥

उपधि-त्याग[३४] से प्राणी क्या फल पाता है भगवन्! सुखकर?
इससे वह स्वाध्याय-ध्यान की क्षति से बच जाता है नर॥८२॥

उपधि-रहित मुनि अभिलाषा से विरहित होकर सुख पाता।
नही उपधि के अभाव मे मानसिक दुख को अपनाता ॥८३॥

भगवन् अशन-त्याग[३५] से क्या फल मिलता प्राणी को अनवद्य।
इससे जीवित रहने की लालसा-छेद देता है सद्य॥८४॥

जीवित-आशा के प्रयोग से जब विमुक्त वह हो जाता है।
तब भोजन के बिना श्रमण, सक्लेश न किंचित् भी पाता है॥८५॥

पूज्य! कषाय-त्याग[३६] से क्या फल? इससे वीतरागता मिलती।
वीतराग होने पर सुख-दुख मे समता की बाडी खिलती॥८६॥

योग-त्याग[३७] से क्या फल मिलता? इससे मनुज अयोगी बनता।
नये कर्म फिर नही बाँधता, पूर्व बद्ध कर्मो को धुनता॥८७॥

पूर्ण शरीर-त्याग[३८] का क्या फल प्राणी को मिलता? गुरुदेव!
देह-त्याग से सिद्धातिशय गुणो को पा जाता स्वयमेव॥८८॥

सिद्धातिशय-सुगुण-संप्राप्त जीव लोकाग्र पहुँच पाता।
लोक-शिखर पर पहुच वहाँ फिर परम सुखी वह बन जाता॥८९॥

सहाय-त्याग[३९] क्रिया का क्या फल? इससे मिल पाता एकत्व।
फिर एकत्वाऽऽलम्बन का करता अभ्यास हुआ वह सत्व॥९०॥

शब्द कलह झझट कषाय तू-तू से होता मुक्त तत.॥
सयम-सवर-बहुल व समाधिस्थ हो जाता श्रमण स्वत.॥९१॥

भगवन्! भक्त-त्याग[४०] से किस गुण को यह जीव प्राप्त करता?
भक्त-त्याग से बहुत सैकडो जन्मो का रुन्धन करता॥९२॥

हे भगवन्! सद्भाव-त्याग[४१] से प्राणी किस फल को पाता?
वह सद्भाव-त्याग से झट अनिवृत्ति करण को अपनाता॥९३॥

मुनि अनिवृत्ति-करण-सप्राप्त, चार कर्मो का करता क्षय।
यथा कि वेदनीय आयुष्य व नाम गोत्र का पूर्ण विलय॥९४॥

तदनन्तर वह सिद्ध-बुद्ध फिर मुक्त यहाँ होता अत्यन्त ।
परिनिर्वाण प्राप्त करता सब दु:खो का करता है अन्त ॥९५॥

प्रतिरूपता-क्रिया[१] का क्या फल ? इससे हलके मन को पाता ।
लघुता से अप्रमत्त, प्रकट लिंग हो प्रशस्त लिंग अपनाता ॥९६॥

विशुद्ध दर्शनवान पराक्रमपूर्ण, समिति वाला होता है ।
प्राणभूत फिर जीव सत्त्व गण का विश्वस्त रूप होता है ॥९७॥

थोडी प्रतिलेखन वाला व जितेन्द्रिय, विपुल तपस्या वाला ।
होता है सर्वत्र समितियो का प्रयोग वह करने वाला ॥९८॥

वैयावृत्य-क्रिया[२] से भगवन् ! प्राणी किस फल को पाता ?
इससे वर तीर्थकर-नाम गोत्र का अर्जन हो जाता ॥९९॥

सब-गुण-सपन्नता[३] जीव को क्या फल देती है ? गुरुदेव !
इससे जीव अपनुरावृत्ति कर लेता है स्वयमेव ॥१००॥

जीव अपुनरावृत्ति प्राप्त करनेवाला, शारीरिक सर्व—
और मानसिक दु खो का भागी न कभी होता, गत-गर्व ॥१०१॥

वीतरागता[४] का क्या फल ? इससे शिष्य ! स्नेह-अनुबन्ध ।
शीघ्र काट देता है प्राणी भीषण तृष्णा का भी फद ॥१०२॥

तथा मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द रस रूप व गन्ध स्पर्श ।
इन सबसे होता विरक्त, प्राणी पा जाता है उत्कर्ष ॥१०३॥

भगवन् ! क्षमा-भाव[५] से जीव प्राप्त करता क्या लाभ विशाल ?
क्षमा-भाव से परीषहो पर विजय प्राप्त करता तत्काल ॥१०४॥

लोभ-मुक्ति[६] का क्या फल ? इससे प्राप्त अकिंचनता को होता ।
अर्थ लोल मनुजो द्वारा अप्रार्थनीय फिर है वह होता ॥१०५॥

भगवन् ! प्राणी को आर्जव[७] से फल क्या होता है सप्राप्त ?
आर्जव से काया भाषा व भाव की ऋजुता होती प्राप्त ॥१०६॥

और जीव वह आर्जव से अविसवादनता को पाता ।
अविसवादनता से प्राणी धर्माराधक हो जाता ॥१०७॥

मार्दवता[८] से क्या सात्विक फल मिलता प्राणी को ? गुरुदेव !
मार्दवता से जीव अनुद्धत वन जाता है वह स्वयमेव ॥१०८॥

जीव अनुद्धत फिर मृदु मार्दव से होकर सपन्न महा।
मद के ग्राठो स्थानो का कर देता शीघ्र विनाश यहाँ ॥१०६॥

भाव-सत्य[50] से क्या फल मिलता भगवन्! प्राणी को ग्रनवद्य ?
भाव-सत्य से भावो की सशुद्धि प्राप्त करता है सद्य ॥११०॥

भाव-शुद्धि-रत जीव जिनोक्त धर्म के आरावन मे तत्पर—
होकर वह परलोक धर्म का आराधक वनता है सत्वर ॥१११॥

करण-सत्य[51] का क्या फल ? इससे करण-शक्ति को वह पाता है।
करण-शक्ति वाला जैसा कहता है वैसा ही करता है ॥११२॥

योग-सत्य[52] से क्या फल प्राणी को मिलता भगवन्! सुविशिष्ट ?
योग-सत्य से योगो की परिशुद्धि प्राप्त करता उत्कृष्ट ॥११३॥

मनो-गुप्ति[53] का क्या फल ? इससे पाता एकाग्रता यहाँ पर।
मनोगुप्त एकाग्रचित्त सयम का आराधक होता फिर ॥११४॥

वचन गुप्ति[54] से क्या फल मिलता ? इससे निर्विकार नर होता।
वचन-गुप्त अविकारी वह आध्यात्म योग साधनयुत होता ॥११५॥

काय गुप्ति[55] से क्या मिलता ? इससे सवर को अपनाता।
सवर द्वारा काय-गुप्त फिर पापाश्रव रुन्धन कर पाता ॥११६॥

मन की समाधारणा[56] से प्राणी को क्या फल मिलता ? देव!
मन की समाधारणा से एकाग्रचित्त वनता स्वयमेव ॥११७॥

तदनन्तर वह ज्ञान-पर्यवो को होता सम्प्राप्त यहाँ पर।
करता दर्शन-शुद्धि तथा मिथ्यात्व क्षीण करता है सत्वर ॥११८॥

जीव वचन की समाधारणा[57] से क्या प्राप्त यहा करता ?
वाणी-विपयभूत पर्यव-गण को विशुद्ध इससे करता ॥११९॥

ततः वोधि की सद्य सुलभता मनुज प्राप्त कर लेता है।
और वोधि की दुर्लभता को शीघ्र क्षीण कर लेता है ॥१२०॥

तन की समाधारणा[58] से प्राणी किस फल को पाता है ?
इससे वह चारित्र पर्यवो मे विशुद्धता लाता है ॥१२१॥

फिर वह क्रमश. यथाख्यात-चारित्र-विशोधन करता सत्वर।
तत केवली-सत्क चार कर्मों को क्षय कर देता मुनिवर ॥१२२॥

तदनंतर वह सिद्ध-बुद्ध-परिमुक्त यहाँ बनता है संत ।
परिनिर्वाण प्राप्त होता है सब दु:खो का करता अन्त ॥१२३॥

पूज्य ! ज्ञान की सपन्नता[५९] जीव को क्या फल देती है ?
वह सब भावो का रहस्य प्राणी को बतला देती है ॥१२४॥

जीव ज्ञान की सपन्नता प्राप्त कर पूर्ण विज्ञ होता ।
फिर चतुरंत विश्व-कानन मे अपने को न कभी खोता ॥१२५॥

स-सूत्र सूई गिरने पर भी ज्यो गुम होती कभी नही ।
त्यो स-सूत्र प्राणी ससृति मे होता कभी विनष्ट नही ॥१२६॥

ज्ञान विनय तप और चरण के योगो को फिर वह अपनाता ।
स्वपर समय की व्याख्या, तुलना मे प्रामाणिक माना जाता ॥१२७॥

दर्शन-सपन्नता[६०] जीव को क्या फल देती है ? भगवन् !
इससे वह भव-भ्रमण हेतु मिथ्यात्व-छेद देता शुभ मन ॥१२८॥

फिर उसकी बुझती न प्रकाश-शिखा, निज को सयोजित करता ।
परम ज्ञान दर्शन से सम्यक् भावित करता हुआ विचरता ॥१२९॥

चरित्र-सपन्नता[६१] जीव को क्या फल देती है ? भगवन् !
इससे वह शैलेशी दशा प्राप्त कर लेता शीघ्र श्रमण ॥१३०॥

तत केवली-सत्क चार कर्मो को करता क्षीण तुरन्त ।
सिद्ध बुद्ध निर्वाण मुक्त हो सब दु खो का करता अन्त ॥१३१॥

भगवन् ! श्रोत्रेन्द्रिय के निग्रह[६२] से क्या जीव प्राप्त है करता ?
इससे प्रिय-अप्रिय शब्दो मे राग-द्वेष का निग्रह करता ॥१३२॥

शब्द-जन्य वह राग-द्वेषोत्पन्न कर्म फिर नही बाँधता ।
पूर्व-बद्ध कर्मो को करता क्षीण, स्वय को सतत साधता ॥१३३॥

भगवन् ! लोचन-इन्द्रिय[६३] के निग्रह से जीव प्राप्त क्या करता ?
इससे प्रिय-अप्रिय रूपो से राग-द्वेष का निग्रह करता ॥१३४॥

रूप-जन्य वह राग-द्वेषोत्पन्न कर्म फिर नही बाँधता ।
पूर्व-बद्ध कर्मो को करता क्षीण, स्वय को सतत साधता ॥१३५॥

भगवन् ! घ्राणेन्द्रिय[६४] के निग्रह से फिर जीव प्राप्त क्या करता ?
इससे प्रिय-अप्रिय गधो मे राग-द्वेष का निग्रह करता ॥१३६॥

गंध-जन्य वह राग-द्वेषोत्पन्न कर्म फिर नही बाँधता।
पूर्व-बद्ध कर्मों को करता क्षीण, स्वय को सतत साधता ॥१३७॥

भगवन् ! जिह्वेन्द्रिय[६५] के निग्रह से फिर जीव प्राप्त क्या करता ?
इससे प्रिय-अप्रिय रस मे वह राग-द्वेष का निग्रह करता ॥१३८॥

रस-सबधी राग-द्वेषोत्पन्न कर्म फिर नही बाँधता।
पूर्व-बद्ध कर्मो को करता क्षीण, स्वयं को सतत साधता ॥१३९॥

भगवन् ! स्पर्शेन्द्रिय[६६] का निग्रह से फिर जीव प्राप्त क्या करता ?
इससे प्रिय-अप्रिय स्पर्शों मे राग-द्वेष का निग्रह करता ॥१४०॥

स्पर्श-जन्य वह राग-द्वेपोत्पन्न कर्म वह नही बाधता।
पूर्व-बद्ध कर्मों को करता क्षीण, स्वयं को सतत साधता ॥१४१॥

क्रोध-विजय[६७] से क्या फल मिलता ? इससे क्षमा धर्म को धरता।
क्रोध वेदनीय कर्म को न बाँधता पूर्व-बद्ध अव हरता ॥१४२

मान-विजय[६८] से क्या फल मिलता ? इससे मृदुता को स्वीकरता।
मान वेदनीय कर्म को न बाँधता, पूर्व-बद्ध अघ हरता ॥१४३॥

कपट-विजय[६९] से क्या फल मिलता ? इससे ऋजुता को स्वीकरता।
कपट वेदनीय कर्म को न बाँधता, पूर्व-वद्ध अघ को हरता ॥१४४॥

लोभ-विजय[७०] से क्या फल मिलता ? इससे सतोषी वह बनता।
लोभ वेदनीय कर्म को न बाँधता, पूर्व-बद्ध अघ को धुनता ॥१४५॥

प्रेम-दोष-मिथ्यादर्शन-जय[७१] से भगवन् ! प्राणी क्या पाता ?
इससे ज्ञान चरण दर्शन आराधन मे तत्पर हो जाता ॥१४६॥

कर्माष्टक मे कर्म-ग्रन्थि खोलने हेतु लाता तत्परता।
क्रमश. अट्ठाईस प्रकार मोह का प्रथमतया क्षय करता ॥१४७॥

ज्ञानावरण व अन्तराय की पॉच-पॉच, दर्शन की नौ है।
इन तीनो कर्मों की सर्व प्रकृतियाँ युगपत् करता क्षय है ॥१४८॥

तत. अनन्त अनुत्तर निरावरण वितिमिर परिपूर्ण महान।
विशुद्ध लोकालोक-प्रकाशक पाता केवलदर्शन ज्ञान ॥१४९॥

जव तक श्रमण सयोगी होता तव तक ईर्यां-पथिक कर्म का।
होता सुख स्पर्शवाला दो समय स्थितिक वह वध कर्म का ॥१५०॥

यथा कि प्रथम समय मे बन्ध, दूसरे में होता वेदन ।
समय तीसरे मे उसका हो जाता समूल से छेदन ॥१५१॥

बद्ध व स्पृष्ट उदीरित वेदित होकर क्षय हो जाता है ।
तदनन्तर वह जीव अन्त मे अकर्म भी हो जाता है ॥१५२॥

फिर अवशिष्ट आयु पालन कर अन्तर्मुहूर्त-मित मे रह जाता ।
तब वह योगो का निरोध करने मे झट उद्यत हो जाता ॥१५३॥

सूक्ष्म क्रियातिपाति नामक फिर शुक्ल ध्यान मे वह रत होकर ।
पहले मन फिर वचन योग को रोक, व प्राणापान रोक फिर ॥१५४॥

पांच ह्रस्व अक्षर उच्चारण जितने स्वल्प समय मे मुनिवर ।
फिर समुच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति नाम का ध्यान वहाँ धर ॥१५५॥

वेदनीय आयुष्य नाम शुभ, गोत्र कर्म इन चारो को फिर ।
एक साथ क्षय करके आत्मा अजर-अमर बन जाता आखिर ॥१५६॥

फिर औदारिक और कार्मण तन को पूर्णतया वह तजकर ।
ऋजु श्रेणी को प्राप्त हुआ फिर ऊर्ध्व दिशा मे गति करता नर ॥१५७॥

फिर अविग्रह से एक समय की गति से जाता सिद्ध-स्थल पर ।
साकारोपयोग युत सिद्ध-बुद्ध होता सब दु ख अन्त कर ॥१५८॥

महावीर भगवान् श्रमण से यह सम्यक्त्व-पराक्रम का वर ।
अर्थ प्ररूपित प्रज्ञापित दर्शित उपदर्शित हुआ यहाँ पर ॥१५९॥

तीसवाँ अध्ययन

तप-मार्ग

राग-द्वेष-समर्जित, पाप कर्म को जिस प्रकार तप से।
भिक्षु क्षीण करता है, उसको सुन एकाग्रचित्त मुझ से ॥१॥

हिंसा मृषा अदत्त मिथुन फिर परिग्रह से विरत प्रवर।
निशि-भोजन से जो उपरत है अनाश्रवी होता वह नर ॥२॥

पंच समित, अकषाय, त्रिगुप्त, जितेन्द्रिय, गर्वहीन, गुणवान।
और शल्य से रहित जीव कहलाता अनाश्रवी मतिमान ॥३॥

उक्त गुणो के विरुद्ध राग-द्वेषार्जित जो अघ होता है।
हो एकाग्रचित्त सुन, उसे भिक्षु जिस प्रकार से खोता है ॥४॥

सलिलागम-पथ निरोध से ज्यो जल को उलीचने पर आखिर।
सूर्य-ताप से महा तालाब सूख जाता है क्रमश. त्यो फिर ॥५॥

संयति के सब पाप-कर्म आने के पथ निरोध होने पर।
कोटि भवों के सचित कर्म तपस्या से कट जाते सत्वर ॥६॥

वाह्याभ्यन्तर विभेद से तप दो प्रकार का कहा सुजान।
छह प्रकार है वाह्य व आभ्यन्तर भी छह प्रकार से जान ॥७॥

अनशन ऊनोदरिका भिक्षाचर्या रस-परित्याग महान।
काय-क्लेश तथा फिर सलीनता वाह्य तप है, पहचान ॥८॥

अनशन के दो भेद प्रथम इत्वरिक अपर फिर मरण काल है।
सावकाक्ष इत्वरिक दूसरा निरवकाक्ष अनशन विशाल है ॥९॥

छह प्रकार इत्वरिक तपस्या वह सक्षिप्त तथा प्रकथित है।
श्रेणि प्रतर, घन, वर्ग तपस्या का यह चौथा भेद प्रथित है ॥१०॥

पंचम वर्ग वर्ग-तप है फिर प्रकीर्ण छट्ठा भेद महान।
मन-इच्छित चित्रित फल देने वाला तप इत्वरिक प्रधान ॥११॥

मरण काल अनशन के फिर होते है उभय भेद मतिमान।
कायिक चेष्टा से सविचार तथा अविचार भेद पहचान ॥१२॥

अथवा सपरिकर्म फिर अपरिकर्म निर्हारी व अनिर्हारी ।
दो-दो भेद कहे, इन सब मे अशन-त्याग तो रहता जारी ॥१३॥

ऊनोदरिका पाँच प्रकार कही सक्षिप्ततया पहचान ।
द्रव्य क्षेत्र फिर काल भाव पर्याय भेद ये पाच प्रधान ॥१४॥

जिसकी जितनी है खुराक उससे कम से कम एक सिक्त भी ।
कम खाता वह द्रव्योनोदर, अधिकाधिक फिर एक कवल भी ॥१५॥

ग्राम, राजधानी व निगम, आकर, नगर, पल्ली पहचान ।
खेडा, कर्वट, मडप, पत्तन व द्रोणमुख, सबाध सुजान ॥१६॥

आश्रम-पद, विहार फिर सन्निवेश व समाज, घोप मे भी ।
स्थली व सेना-स्कधावार सार्थ, सवर्त, कोट मे भी ॥१७॥

पाड़ा, गलियाँ, घर या इस प्रकार के अपर क्षेत्र मे कल्प ।
निरधारित क्षेत्रो मे जाना क्षैत्रिक ऊनोदरी-विकल्प ॥१८॥

अथवा पेटा व अर्धपेटा गोमूत्रिका पतग-वीथिका ।
शम्बूकावर्ता व आयतगत्वा-प्रत्यागता षष्ठिका ॥१९॥

दिन के चार प्रहर मे से जिस किसी काल का किया अभिग्रह ।
उसमे भिक्षाकारक के, तप ऊनोदरी काल से है वह ॥२०॥

अथवा फिर कुछ न्यून तृतीय प्रहर मे भिक्षा हित जो जाता ।
उसे काल से ऊनोदरिका तप होता है सौख्य प्रदाता ॥२१॥

सालकृत अनलकृत नारी नर जो अमुक अवस्था वाला ।
अमुक वस्त्रधारी फिर अमुक अशन मुझको हो देने वाला ॥२२॥

अमुक विशेष वर्ण या भाव युक्त से भिक्षा लेने का प्रण ।
करता उसे भाव ऊनोदरिका तप होता शिष्य ! विचक्षण ॥२३॥

द्रव्य क्षेत्र फिर काल भाव मे जो पर्याय कहे उन सबसे ।
अवमौदर्य विधायक भिक्षु कहाता पर्यवचरक सब से ॥२४॥

गोचराग्र है आठ प्रकार व सात प्रकार एषणा चर्या ।
और अन्य है अभिग्रह वे कहलाते सब भिक्षाचर्या ॥२५॥

दूध दही घृत आदि तथा फिर प्रणीत अशन-पान पहचान ।
और रसो के वर्जन को रस-वर्जन तप है कहा सुजान ॥२६॥

उत्कट वीरासनादि का अभ्यास किया जो जाता है।
आत्मा के हित सुखकर, काय-क्लेश वही कहलाता है ॥२७॥

अनापात एकान्त तथा नारी-पशु-वर्जित शयनासन का।
सेवन करना विविक्त शयनासन तप कहलाता मुनिजन का ॥२८॥

कहा गया यह यहाँ बाह्य तप अति सक्षेपतया पहचान।
अब आभ्यन्तर तप को क्रमश यहाँ कहूगा मैं मतिमान ॥२९॥

प्रायश्चित्त, विनय फिर वैयावृत्य और स्वाध्याय सार है।
तथा ध्यान व्युत्सर्ग छहो ये आभ्यन्तर तप के प्रकार हैं ॥३०॥

आलोचना योग्य आदिक जो दशविध प्रायश्चित्त रहा है।
सम्यक जो पालन करता उसको तप प्रायश्चित्त कहा है ॥३१॥

अभ्युत्थान व अंजलिकरण तथा गुरुजनो को देना आसन।
गुरु की सेवा-भक्ति हृदय से करना विनय कहाता पावन ॥३२॥

आचार्यादि सम्बन्धी दशविध वैयावृत्य कहा उनका फिर।
यथाशक्ति आसेवन, वैयावृत्य कहा जाता है सुरुचिर ॥३३॥

प्रथम वाचना और पृच्छना परिवर्तना श्रमण ! अनपाय।
अनुप्रेक्षा फिर धर्मकथा यो पाँच प्रकार कहा स्वाध्याय ॥३४॥

आर्त्त रौद्र को तज सुसमाहित धर्म व शुक्लध्यान-अभ्यास।
करे उसे बुधजन कहते है ध्यान नाम का तपवर खास ॥३५॥

सोने, उठने और-और बैठने मे जो व्यापृत भिक्षु न होता।
छट्ठा तप व्युत्सर्ग कहा वह तन की चचलता को खोता ॥३६॥

उभय प्रकार तपो का सम्यग् जो करता आचरण श्रमण।
सब ससार-विमुक्त शीघ्र हो जाता है वह पडित जन ॥३७॥

इकतीसवाँ अध्ययन

चरण-विधि

यहाँ कहूँगा जीवो को सुख देने वाली चरण सुविधि को।
जिसे ग्रहण कर बहुत जीव तर गए शीघ्र ससार-जलधि को ॥१॥

एक स्थान से विरत बने फिर एक स्थान मे करे प्रवृत्ति।
करे निवृत्ति असयम से, फिर सयम मे नित करे प्रवृत्ति ॥२॥

पाप-प्रवर्तक राग-द्वेष उभय इन दो पापो को सत।
सदा रोकता है वह ससृति मे न कभी रहता गुणवत ॥३॥

तोनो दड, गर्व तीनो फिर तीनो शल्यो को जो सत।
सदा छोडता है वह मडल मे न कभी रहता गुणवंत ॥४॥

देव मनुज तिर्यञ्च सम्बन्धी सब उपसर्गों को जो सत।
सदा सहन करता वह ससृति मे न कभी रहता गुणवत ॥५॥

विकथा कषाय सज्ञा तथा उभय दुर्ध्यानो को जो सत।
सदा छोडता है वह ससृति मे न कभी रहता मतिमत ॥६॥

इन्द्रिय विषयो, व्रतो, समितियो और क्रियाओ मे जो सत।
सदा यत्न करता वह ससृति मे न कभी रहता मतिमत ॥७॥

छह लेश्या, छह काय, अशन के छहो कारणो मे जो सत।
सदा यत्न करता वह ससृति मे न कभी रहता गुणवत ॥८॥

अशन ग्रहण की प्रतिमाओ मे भय-स्थान सातो मे सत।
सदा यत्न करता वह ससृति मे न कभी रहता मतिमंत ॥९॥

मदो, ब्रह्म-गुप्तियो तथा फिर दश विध भिक्षु धर्म मे सत।
सदा यत्न करता वह ससृति मे न कभी रहता मतिमत ॥१०॥

श्रावक प्रतिमाओ मे तथा भिक्षु प्रतिमाओ मे जो सत।
सदा यत्न करता वह संसृति मे न कभी रहता गुणवंत ॥११॥

क्रिया, भूतग्रामो मे परमाधार्मिक देवो मे जो सत।
सदा यत्न करता वह ससृति मे न कभी रहता गुणवंत ॥१२॥

गाथा पोड़श अध्ययन व असयम स्थानो मे जो सत ।
सदा यत्न करता वह ससृतियो मे न कभी रहता मतिमंत ॥१३॥

ब्रह्मचर्य पद, ज्ञाताध्ययन व असमाधि स्थानों मे सत ।
सदा यत्न करता वह ससृति मे न कभी रहता मतिमत ॥१४॥

जो इक्कीस सवल दोषो, वाईस परिषहो मे नित सत ।
यत्नशील रहता, वह ससृति मे न कभी रहता गुणवत ॥१५॥

सूत्रकृताङ्ग त्रयोविंशति मे रूपाधिक देवो मे संत ।
सदा यत्न करता वह ससृति मे न कभी रहता गुणवंत ॥१६॥

जो कि पचीस भावनाओं मे दशादि उद्देशो मे संत ।
सदा यत्न करता वह संसृति मे न कभी रहता गुणवत ॥१७॥

जो अनगार-गुणो मे फिर आचार-प्रकल्पों मे जो सत ।
सदा यत्न करता वह संसृति मे न कभी रहता मतिमत ॥१८॥

पापश्रुत-प्रसंगो मे फिर मोह स्थानो मे जो सत ।
सदा यत्न करता वह ससृति मे न कभी रहता मतिमत ॥१९॥

सिद्ध-गुणो योगो मे तेतीसाशातन-गण मे जो संत ।
सदा यत्न करता वह संसृति मे न कभी रहता मतिमंत ॥२०॥

इन उपरोक्त सभी स्थानो मे सदा यत्न करता जो संत ।
वह पडित भट सव ससार-मुक्त हो जाता है गुणवंत ॥२१॥

बत्तीसवाँ अध्ययन

प्रमाद स्थान

जो अनादिकालीन प्रवाहित मूल सहित सब दु:ख अन्तकर।
वह उपाय एकाग्र्य श्रेयकर मैं कहता हू सुनो ध्यान धर ॥१॥

राग, द्वेष तथा अज्ञान व मोह नाश से प्राणी पाता।
पूर्ण ज्ञान का प्रकाश फिर एकान्त सौख्यप्रद शिव अपनाता ॥२॥

अज्ञ जनो का संग छोड़ गुरु वृद्ध जनो की सेवा अथ है।
विजनवास स्वाध्याय धैर्य फिर सूत्र-अर्थ-चिन्तन शिव पथ हैं ॥३॥

समाधि-कामी श्रमण तपस्वी एषणीय मित भोजन चाहे।
फिर निपुणार्थ बुद्धि वाला साथी भी विजन निकेतन चाहे ॥४॥

समगुण अथवा अधिक गुणी मुनि निपुण सहायक मिले न जब वह।
काम-विरत, सब पापरहित होकर एकाकी विचरे तब वह ॥५॥

अडे से बगली पैदा होती, बगली से अडा जैसे।
स्थान मोह का तृष्णा है, तृष्णा का स्थान मोह है वैसे ॥६॥

राग-द्वेष उभय हैं कर्म-बीज, फिर मोहज कर्म कहा है।
जन्म-मरण का मूल कर्म है जन्म-मरण मय दु:ख रहा है ॥७॥

विमोह नर के दु:ख न होता, विगत-तृष्ण के मोह न होता।
निर्लोभी के तृष्णा नही, अकिंचन के फिर लोभ न होता ॥८॥

राग-द्वेष-मोह को जड से उन्मूलन का इच्छुक जो नर।
जिन-जिन सदुपायो को बारे, उन्हे कहूगा क्रमश. सत्वर ॥९॥

अधिक रसो का सेवन न करे धातु-दीप्तिकर रस प्राय. सभी।
स्वादु सुफल तरु को ज्यो विहग कष्ट देते त्यो दृप्त काम भी ॥१०॥

बहु इधन वाले वन मे ससमीर दवाग्नि नही बुझती ज्यो।
बहुरस-भोजी ब्रह्मव्रती की इन्द्रियाग्नि जलती रहती त्यो ॥११॥

विविक्त शय्यासन-यत्रित, अवमाशन, दमितेन्द्रिय के मन को।
पकड न सकता राग-शत्रु, वर औषधि-जित गद ज्यो दृढ तन को ॥१२॥

अप्रशस्त है चूहों का रहना विडाल-वस्ती के पास।
स्त्री-आलय के निकट ब्रह्मचारी का त्यो अक्षम्य निवास ॥१३॥

स्त्री-लावण्य, रूप, आलाप, विलास, हास्य, इंगित, प्रेक्षण।
इन्हे चित्त मे रमा, देखने का संकल्प न करे श्रमण ॥१४॥

स्त्री-अवलोकन, प्रार्थन, चिन्तन, कीर्तन नहिं करना ही हितकर।
धर्म-ध्यान के योग्य, ब्रह्मव्रत-रत मुनि का यह पथ श्रेयस्कर ॥१५॥

जिन त्रिगुप्त मुनियो को सज्जित सुर-वधुएं न चलित कर सकती।
फिर भी परम प्रशस्त व हितकर उनके लिए विजन मे वसती ॥१६॥

मोक्षाकाक्षी, धर्मस्थित, ससार-भीरु नर के जीवन मे।
अज्ञ-मनोहारी नारी दुस्तर कोई वस्तु न जग में ॥१७॥

इन सगो को तरने पर सब शेष सग हैं सुतर यथा।
महा सिन्धु तरने पर गगा नदी तैरना सुगम तथा ॥१८॥

देव सहित सब जग में कायिक व मानसिक दुख है अत्यन्त।
वह सब कामजन्य है, वीतराग पा जाता उसका अन्त ॥१९॥

खाते समय वर्ण रस से ज्यो फल किंपाक मनोरम होते।
जीवनान्त करते परिणति में, कामभोग भी ऐसे होते ॥२०॥

मनोज्ञ या अमनोज्ञ इन्द्रियो के विषयों मे राग व रोष।
न करे समाधि-इच्छुक श्रमण तपस्वी सतत रहे निर्दोष ॥२१॥

रूप आंख का विषय कहाता, राग हेतु जो प्रिय बन जाता।
द्वेष हेतु अप्रिय बनता, समता से वीतराग कहलाता ॥२२॥

चक्षु रूप का ग्राहक है फिर रूप चक्षु का ग्राह्य कहाता।
राग हेतु वह प्रिय हो जाता, द्वेष हेतु अप्रिय बन जाता ॥२३॥

ज्यो आलोक-लोल रागातुर शलभ मृत्यु को है अपनाता।
त्यो प्रिय रूप-तीव्र लोलुप नर आकाल ही मे विनाश पाता ॥२४॥

तीव्र द्वेष करता अप्रिय मे, दुःख उसी क्षण वह पाता नित।
निज दुर्दान्त दोष से दुखी, न इसमे दोष रूप का किंचित् ॥२५॥

प्रिय सुरूप मे प्रबल रक्त, अप्रिय मे करता द्वेष स्वतः।
वह अज्ञानी दुख पाता, होता न विरत मुनि लिप्त अतः ॥२६॥

रूप-पिपासानुग, गुरु-क्लिष्ट, स्वार्थरत, अज्ञ, विविध त्रस स्थावर।
जीवो का वध करता, परितापित पीड़ित भी उन्हे अधिकतर ॥२७॥

रूप-गृद्ध, उत्पादन, रक्षण, सनियोग, व्यय, वियोग-लिप्त।
रहता उसे कहाँ सुख, भोग समय भी रहता जबकि अतृप्त ॥२८॥

रूप-अतृप्त, सुरूप ग्रहण मे रहता गृद्ध, न होता तुष्ट।
अतुष्टि-दोष दुखी पर द्रव्य चुराता है, वह लोभाविष्ट ॥२९॥

रूप ग्रहण मे अतृप्त तृष्णाऽभिभूत हो, वह चोरी करता।
लोभ दोष से झूठ-कपट बढता, फिर दुख से छूट न सकता ॥३०॥

झूठ बोलते समय व पहले पीछे होता दुखी दुरन्त।
त्यो चोरी-रत रूप-अतृप्त, अनाश्रित, पाता दुख अत्यन्त ॥३१॥

रूप-गृद्ध को कही कदाचित् किंचित् भी क्या सुख हो पाता ?
प्राप्ति समय दुख, फिर उपभोग समय दुख अतृप्ति का हो जाता ॥३२॥

अप्रिय रूप द्वेपरत त्यो दुख-परम्परा को है अपनाता।
दुष्ट चित्त से कर्म बांध, परिणाम काल मे वह दुख पाता ॥३३॥

रूप-विरत नर अशोक हो, दुख-परम्परा से लिप्त न बनता।
जल मे ज्यो कमलिनी पत्र, त्यो वह अलिप्त बन जग मे रहता ॥३४॥

शब्द श्रोत्र का विषय कहाता, राग हेतु जो प्रिय बन जाता।
द्वेप हेतु अप्रिय होता, समता से वीतराग कहलाता ॥३५॥

श्रोत्र शब्द का ग्राहक है फिर शब्द श्रोत्र का ग्राह्य कहाता।
राग हेतु वह प्रिय कहलाता, द्वेष हेतु अप्रिय बन जाता ॥३६॥

शब्द-लुब्ध रागातुर मुग्ध अतृप्त हिरण ज्यों मारा जाता।
त्यों ही तीव्र शब्द-लोलुप नर अकाल मे ही विनाश पाता ॥३७॥

तीव्र द्वेष करता अप्रिय में, दुख उसी क्षण वह पाता नित।
निज दुर्दान्त दोप से दुखी, न इसमे शब्द दोष है किंचित् ॥३८॥

रुचिर शब्द मे तीव्र रक्त, अप्रिय मे करता द्वेप स्वत.।
वह अज्ञानी दुख पाता, होता न विरत मुनि लिप्त अत. ॥३९॥

रूप-पिपासाऽनुग गुरु-क्लिष्ट, स्वार्थरत, अज्ञ विविध त्रस स्थावर।
जीवो का वध करता, परितापित पीड़ित भी, उन्हे अधिकतर ॥४०॥

शब्द-गृद्ध, उत्पादन, रक्षण, सनियोग, व्यय, वियोग-लिप्त।
रहता, उसे कहाँ सुख भोग समय भी रहता जबकि अतृप्त ॥४१॥

शब्द-अतृप्त, सुशब्द ग्रहण में रहता गृद्ध, न होता तुष्ट।
अतुष्टि दोष दुखी, पर वस्तु चुराता है वह लोभाविष्ट ॥४२॥

शब्द ग्रहण मे अतृप्त तृष्णाभिभूत हो वह चोरी करता।
लोभ दोष से झूठ-कपट बढता, फिर दुख से छूट न सकता ॥४३॥

झूठ बोलते समय व पहले पाछे होता दुखी दुरन्त।
त्यों चोरी-रत शब्द अतृप्त अनाश्रित, पाता दुख अत्यन्त ॥४४॥

शब्द-गृद्ध को कही कदाचित् किंचित् भी क्या सुख हो पाता ?
प्राप्ति समय दुख, फिर परिभोग समय अतृप्ति का दुख हो जाता ॥४५॥

अप्रिय शब्द द्वेषरत त्यो दुख-परम्परा को है अपनाता।
दुष्ट चित्त से कर्म बाँध, परिणाम समय में वह दुख पाता ॥४६॥

शब्द-विरत नर अशोक हो दुख-परम्परा से लिप्त न बनता।
जल मे ज्यो कमलिनी पत्र,त्यो बन अलिप्त वह जग मे रहता ॥४७॥

गंध घ्राण का विषय कहाता, राग हेतु वह प्रिय बन जाता।
द्वेष हेतु अप्रिय बनता, समता से वीतराग कहलाता ॥४८॥

घ्राण गंध का ग्राहक है फिर गध घ्राण का ग्राह्य कहाता।
राग हेतु वह प्रिय कहलाता, द्वेष हेतु अप्रिय बन जाता ॥४९॥

औषधि-गध-गृद्ध रागातुर अहि, बिल-बाहर मारा जाता।
त्यो ही तीव्र गंधलोलुप नर अकाल मे ही विनाश पाता ॥५०॥

तीव्र द्वेष करता अप्रिय मे, दुख उसी क्षण पाता नित।
निज दुर्दान्त दोष से दुखी न इसमें गध-दोष है किंचित् ॥५१॥

रुचिर गध मे तीव्र रक्त, अप्रिय मे करता द्वेष स्वत.।
वह अज्ञानी दुख पाता, होता न विरत मुनि लिप्त अत ॥५२॥

गध-पिपासानुग गुरु-क्लिष्ट स्वार्थवश अज्ञ विविध त्रस स्थावर।
जीवो का वध करता, परितापित पीडित भी, उन्हे अधिकतर ॥५३॥

गध-गृद्ध उत्पादन, रक्षण, सनियोग, व्यय, वियोग-लिप्त—
रहता, उसे कहाँ सुख भोग समय भी रहता जबकि अतृप्त ॥५४॥

गंध-अतृप्त, सुगध ग्रहण में रहता गृद्ध न होता तुष्ट।
अतुष्टि-दोष दुखी पर वस्तु चुराता है वह लोभाविष्ट ॥५५॥

गध ग्रहण मे अतृप्त, तृष्णाऽभिभूत हो वह चोरी करता।
लोभ दोष से झूठ-कपट बढता, फिर दुख से छूट न सकता ॥५६॥

झूठ बोलते समय व पहले पीछे होता दुखी दुरन्त।
त्यो चोरी-रत, गध-अतृप्त, अनाश्रित, पाता दुख अत्यन्त ॥५७॥

गध-गृद्ध को कही कदाचित् किंचित् भी क्या सुख हो पाता ?
प्राप्ति समय दुख फिर परिभोग समय अतृप्ति का दुख हो जाता ॥५८॥

अप्रिय गध-द्वेष रत भी दुख-परम्परा को है अपनाता।
दुष्ट चित्त से कर्म बांध, परिणाम काल मे वह दुख पाता ॥५९॥

गध-विरत नर अशोक हो, दुख-परम्परा से लिप्त न बनता।
जल मे ज्यों कमलिनी-पत्र, त्यो बन अलिप्त वह जग मे रहता ॥६०॥

रस रसना का विषय कहाता, राग हेतु वह प्रिय बन जाता।
द्वेष हेतु अप्रिय बनता, समता से वीतराग कहलाता ॥६१॥

रसना रस की ग्राहक है, फिर रस रसना का ग्राह्य कहाता।
राग हेतु वह प्रिय कहलाता, द्वेष हेतु अप्रिय बन जाता ॥६२॥

आमिष-भोग-गृद्ध रागातुर मत्स्य बडिश से बीधा जाता।
तीव्र रसो मे गृद्ध मनुज त्यो अकाल मे ही विनाश पाता ॥६३॥

तीव्र द्वेष करता अप्रिय मे, दुख उसी क्षण वह पाता नित।
निज दुर्दान्त दोष से दुखित, इसमे रस का दोष न किंचित् ॥६४॥

मनोज्ञ रस मे प्रबल रक्त, अप्रिय मे करता द्वेष स्वतः।
वह अज्ञानी दुख पाता, होता न विरत मुनि लिप्त अतः ॥६५॥

रस-आशानुग, नर गुरु-क्लिष्ट स्वार्थवश अज्ञ विविध त्रस स्थावर।
जीवो का वध करता परितापित पीडित भी उन्हे अधिकतर ॥६६॥

रसलोलुप उत्पादन, रक्षण, सनियोग, व्यय, वियोग-लिप्त।
रहता उसे कहाँ सुख, भोग समय भी रहता जबकि अतृप्त ॥६७॥

रस-अतृप्त नर उसे ग्रहण में रहता लिप्त, न होता तुष्ट।
अतुष्टि दोष दुखी, पर वस्तु चुरा लेता वह लोभाविष्ट ॥६८॥

रस ग्रहण मे अतृप्त, तृष्णाभिभूत हो वह चोरी करता।
लोभ दोष से झूठ-कपट बढता फिर दुख से छूट न सकता ॥६९॥

झूठ बोलते समय व पहले पीछे होता दुखी दुरन्त।
रस-अतृप्त त्यो चोरी-रत, होता असहाय दुखी अत्यन्त ॥७०॥

रसासक्त को कहो कदाचित् किंचित् भी क्या सुख हो पाता ?
प्राप्ति काल मे दुख, परिभोग समय अतृप्ति का दुख हो जाता ॥७१॥

अप्रिय रस मे द्वेष-रक्त दुख-परम्परा को है अपनाता।
दुष्ट चित्त से कर्म बाँध, परिणाम काल मे वह दुख पाता ॥७२॥

रस-विरक्त नर अशोक बन दुख परम्परा से लिप्त न बनता।
जल मे ज्यो कमलिनी पत्र, त्यो बन अलिप्त वह जग मे रहता ॥७३॥

स्पर्श काय का विषय कहाता, राग हेतु वह प्रिय बन जाता।
द्वेष हेतु अप्रिय बनता, समता से वीतराग कहलाता ॥७४॥

काय स्पर्श का ग्राहक है फिर स्पर्श काय का ग्राह्य कहाता।
राग हेतु वह प्रिय कहलाता, द्वेष हेतु अप्रिय बन जाता ॥७५॥

शीत जलावसन्न रागातुर ग्राह-ग्रहीत महिष हो जाता।
त्यो ही तीव्र स्पर्श आसक्त मनुज अकाल मे विनाश पाता ॥७६॥

तीव्र द्वेष करता अप्रिय मे दुख उसी क्षण वह पाता नित।
निज दुर्दान्त दोष से दुखी, न इसमे स्पर्श दोष है किंचित् ॥७७॥

रुचिर स्पर्श मे तीव्र राग, अप्रिय मे करता द्वेष स्वत.।
वह अज्ञानी दुख पाता, होता न विरत मुनि लिप्त अत. ॥७८॥

स्पर्श-पिपासानुग गुरु-क्लिष्ट स्वार्थवश अज्ञ विविध त्रस स्थावर।
जीवो का वध करता, परितापित पीड़ित भी, उन्हे अधिकतर ॥७९॥

स्पर्श-गृद्ध उत्पादन, रक्षण, सनियोग, व्यय, वियोग-लिप्त।
रहता उसे कहाँ सुख, भोग समय भी रहता जबकि अतृप्त ॥८०॥

स्पर्श-अतृप्त सुस्पर्श ग्रहण मे रहता लिप्त, न होता तुष्ट।
अतुष्टि दोष दुखी पर द्रव्य चुरा लेता वह लोभाविष्ट ॥८१॥

स्पर्श ग्रहण मे अतृप्त तृष्णाऽभिभूत हो चोरी वह करता।
लोभ दोप से झूठ-कपट बढता, फिर दुख से छूट न सकता ॥८२॥

झूठ बोलते समय व पहले पीछे होता दुखी दुरन्त।
त्यो चोरी-रत स्पर्श-अतृप्त अनाश्रित, पाता दुख अत्यन्त ॥८३॥

स्पर्श-गृद्ध को कही कदाचित् किंचित् भी क्या सुख मिल पाता ?
प्राप्ति काल मे दुख फिर भोग समय अतृप्ति का दुख हो जाता ॥८४॥

अप्रिय स्पर्श द्वेष-रत भी दुख-परम्परा को है अपनाता।
दुष्ट चित्त से कर्म बांध, परिणाम काल मे वह दुख पाता ॥८५॥

स्पर्श-विरत नर अशोक बन दुख-परपरा से लिप्त न बनता।
जल मे ज्यो कमलिनी पत्र त्यो बन अलिप्त वह जग मे रहता ॥८६॥

मन का विषय भाव कहलाता, राग हेतु वह प्रिय बन जाता।
द्वेष हेतु अप्रिय बनता समता से वीतराग कहलाता ॥८७॥

मन पदार्थ का ग्राहक है फिर पदार्थ मन का ग्राह्य कहाता।
राग हेतु वह प्रिय बनता द्वेष हेतु अप्रिय बन जाता ॥८८॥

पथाऽपहृत हथिनी मे काम-गृद्ध रागातुर गज मर जाता।
तीव्र भाव आसक्त मनुज त्यों अकाल मे ही विनाश पाता ॥८९॥

तीव्र द्वेष करता अप्रिय मे दु ख उसी क्षण वह पाता नित।
निज दुर्दान्ति दोष से दुखी, न इसमे भाव-दोष है किंचित् ॥९०॥

रुचिर भाव मे परम राग, अप्रिय मे करता द्वेष स्वत।
वह अज्ञानी दुख पाता, होता न विरत मुनि लिप्त अत. ॥९१॥

भाव-पिपासानुग गुरु-क्लिष्ट स्वार्थवश अज्ञ विविध त्रस स्थावर।
जीवो का वध करता परितापित पीडित भी, उन्हे अधिकतर ॥९२॥

भाव-गृद्ध उत्पादन, रक्षण, सनियोग, व्यय, वियोग-लिप्त।
रहता, उसे कहाँ सुख, भोग-समय भी रहता जबकि अतृप्त ॥९३॥

भाव-अतृप्त, पदार्थ ग्रहण मे रहता लिप्त, न होता तुष्ट।
अतुष्टि दोष दुखी पर द्रव्य चुरा लेता वह लोभाविष्ट ॥९४॥

भाव-ग्रहण मे अतृप्त तृष्णाभिभूत हो वह चोरी करता।
लोभ-दोष से झूठ-कपट बढता, फिर दुख से छूट न सकता ॥९५॥

झूठ बोलते समय व पहले पीछे होता दुखी दुरन्त।
त्यो चोरी-रत भाव-अतृप्त अनाश्रित पाता दुख अत्यन्त ॥९६॥

भाव-गृद्ध को कहो कदाचित् किंचित् भी क्या सुख हो पाता ?
प्राप्ति काल मे दुख, फिर भोग समय, अतृप्ति का दुख हो जाता ॥९७॥

अप्रिय भाव द्वेष-रत भी दुख-परपरा को है अपनाता ।
दुष्ट चित्त से कर्म बाँध, परिणाम काल मे वह दुख पाता ॥९८॥

भाव-विरत नर अशोक बन दुख-परपरा से लिप्त न बनता ।
जल मे ज्यो कमलिनी पत्र त्यो अलिप्त बन कर जग मे रहता ॥९९॥

इन्द्रिय, मन के विषय, सरागी नर के दुःख हेतु होते है ।
वीतराग के लिए न किंचित् भी वे दुखदायी होते हैं ॥१००॥

समता और विकारो के ये हेतु न होते काम व भोग ।
उन मे राग, द्वेष, मोह से सविकारी बनते है लोग ॥१०१॥

क्रोध मान फिर कपट लोभ व जुगुप्सा अरति तथा रतिजान ।
हास्य, शोक, भय, पु, स्त्री, क्लीव वेद विविध भाव पहचान ॥१०२॥

यों अनेक विध इन भावो को कामासक्त प्राप्त होता है ।
फिर वह प्राणी करुणास्पद, लज्जित व दीन अप्रिय होता है ॥१०३॥

योग्य शिष्य, तप फल को भी चाहे न लिप्सु-मुनि हो अनुतप्त ।
इन्द्रिय-चोरो के वश, अमित विकारो से होता सतप्त ॥१०४॥

मोह-जलधि मे तत डुबोने वाले कारण पैदा होते ।
उनको पाने, दुख हरने-हित, मनुज सुखैषी उद्यत होते ॥१०५॥

शब्दादिक प्रिय-अप्रिय इन्द्रिय जन्य विषय जो हैं वे सब ही ।
विरत मनुज के मन मे राग-द्वेष न पैदा करते कब ही ॥१०६॥

यो सकल्प-विकल्पो से समता पैदा हो जाती स्पष्ट ।
विषयों मे समभावो से फिर काम-लालसा होती नष्ट ॥१०७॥

वीतराग, कृतकृत्य वही फिर हो जाता क्षण-भर मे जान ।
ज्ञान दर्शनावरण व अन्तराय को क्षय करता मतिमान ॥१०८॥

तत अमोह गतान्तराय सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन जाता ।
शुद्ध, अनाश्रव, ध्यान, समाधियुक्त आयु क्षय कर शिव पाता ॥१०९॥

जिनसे जीव सतत पीडित उन सब दुःखों से होता विरहित ।
दीर्घामय से मुक्त, प्रशस्त, कृतार्थ, अतीव सुखी होता नित ॥११०॥

यह अनादिकालीन दुःख सब मोक्षणार्थ पथ कहा प्रवर ।
कर स्वीकार इसे क्रमश. अत्यन्त सुखी हो जाते नर ॥१११॥

तैंतीसवाँ अध्ययन

कर्म-प्रकृति

जिनसे बधा हुआ यह प्राणी जग मे करता परिवर्तन
उन आठो कर्मो का क्रमश. यहाँ करूँगा मैं वर्णन ॥१॥

ज्ञानावरण तथा फिर दर्शन आवरणीय दूसरा कर्म।
वेदनीय फिर मोह तथा आयुष्य कर्म का समझो मर्म ॥२॥

नाम कर्म है गोत्र कर्म फिर अन्तराय को पहचानो।
इन आठो कर्मों का यो सक्षिप्ततया वर्णन जानो ॥३॥

ज्ञानावरण पंचधा यों है, श्रुत, फिर आभिनिवोधिक ज्ञान।
अवधिज्ञान तीसरा, मनोज्ञान फिर केवलज्ञान महान ॥४॥

निद्रा, प्रचला, निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला फिर पहचान।
स्त्यान-गृद्धि है भेद पाँचवाँ इन सब को समझो मतिमान ! ॥५॥

चक्षु अचक्षु अवधि केवल-दर्शन आवरण यहाँ ज्ञातव्य।
नौ प्रकार का कर्म दर्शनावरण कहा है समझो, भव्य ! ॥६॥

दो प्रकार का वेदनीय है, सात, असात विभेद प्रधान।
फिर इन दोनो ही कर्मों के होते बहुत भेद मतिमान ! ॥७॥

दो प्रकार का मोहनीय है दर्शन तथा चरण पहचान।
तीन भेद दर्शन के, दो चारित्र-मोह के भेद महान ॥८॥

है सम्यक्त्व मोह, मिथ्यात्व मोह, सम्यग् मिथ्यात्व सही।
दर्शन-मोहनीय की तीन प्रकृतियाँ ये है, स्पष्ट कही ॥९॥

अब चारित्र-मोह फिर दो प्रकार का है ज्ञातव्य सुजान !
कषाय मोहनीय है फिर नोकषाय मोहनीय पहचान ॥१०॥

कषाय मोहनीय के सोलह भेद यहाँ पर स्पष्ट कहे।
नोकषाय के सात तथा फिर विकल्प से नौ भेद रहे ॥११॥

नैरेयिक आयुष्य व तिर्यग् आयु, मनुज आयुष्य, विचार।
देवायुष्य भेद चौथा, आयुष्य कर्म यो चार प्रकार ॥१२॥

दो प्रकार का नाम कर्म है, शुभ व अशुभ जग मे प्रख्यात ।
शुभ के बहुत भेद, त्यो अशुभ नाम के बहुत भेद आख्यात ॥१३॥

गोत्र कर्म भी दो प्रकार है, उच्च नीच सज्ञा से जान ।
इन दोनों के आठ-आठ होते हैं भेद, समझ मतिमान ॥१४॥

दान लाभ फिर भोग तथा उपभोग वीर्य सज्ञा पहचान ।
अन्तराय यों पाँच प्रकार कहा संक्षिप्ततया धीमान ॥१५॥

मूल तथा उत्तर की ये सब कर्म-प्रकृतियाँ कही प्रखर ।
प्रदेशाग्र फिर क्षेत्र काल से और भाव से सुन उत्तर ॥१६॥

सव कर्मो के प्रदेशाग्र हैं एक समय मे ग्राह्य अनन्त ।
ग्रन्थिक सत्वातीत व सिद्धो के अनन्तवे भाग, दुरन्त ॥१७॥

छहो दिशाओं से सब जीव कर्म-पुद्गल संग्रह करते है ।
सभी कर्म-पुद्गल सब आत्म-प्रदेश-बद्ध होकर रहते हैं ॥१८॥

कोटि-कोटि है तीस सागरोपम उत्कृष्टतया स्थिति जान ।
इन चारो कर्मो की जघन्य स्थिति है अन्तर्मुहूर्त मान ॥१९॥

ज्ञानावरण व वेदनीय दर्शनावरण की स्थिति पहचान ।
अन्तराय की भी उपरोक्त कही है स्थिति समझो मतिमान ॥२०॥

सत्तर कोटि-कोटि सागर की है उत्कृष्टतया स्थिति जान ।
मोहनीय को जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है मतिमान ॥२१॥

है तेतीस सागरोपम की स्थिति उत्कृष्टतया पहचान ।
आयु कर्म की जघन्यतः स्थिति है फिर अन्तर्मुहूर्त मान ॥२२॥

विंशति कोटि-कोटि सागर की है उत्कृष्टतया स्थिति जान ।
नाम गोत्र की जघन्यत. स्थिति आठ मुहूर्त काल-परिमाण ॥२३॥

सर्व कर्मानुभाग हैं, सिद्धों के अनन्तवे भाग समान ।
सव जीवो से भी ज्यादा, सब अनुभागो का प्रदेश मान ॥२४॥

अत. बुद्ध जन इन कर्मो के अनुभागो को जान मुदा ।
इन्हे निरोध तथा क्षय करने-हित मुनि उद्यम करे सदा ॥२५॥

चौतीसवाँ अध्ययन

लेश्या

क्रमश अनुपूर्वी से लेश्याऽध्ययन कहूँगा मैं तुमसे।
छहो कर्म लेश्याओ के अनुभावो को तू सुन मुझसे ॥१॥

लेश्याओ के नाम, वर्ण, रस, गंध, स्पर्श और परिणाम।
लक्षण, स्थान व स्थिति, गति तथा आयु को मुझसे सुन अविराम ॥२॥

कृष्ण, नील, कापोत व तेजो लेश्या पद्म पांचवी जान।
छट्ठी कही शुक्ल लेश्या, ये नाम यथाक्रम से पहचान ॥३॥

स्निग्ध मेघ, गवलारिष्टक या कनीनिका सम वर्ण प्रकाम।
खजन अजन-तुल्य, कृष्ण लेश्या को कहा गया है श्याम ॥४॥

नील अशोक व चाप-विहग के पैर समान नील पहचान।
तथा स्निग्ध वैडूर्य समान नील लेश्या का वर्ण प्रधान ॥५॥

अलसी-सुमन, तैल-कंटक फिर पारावत के कठ समान।
वर्ण यही कापोत तीसरी लेश्या का होता मतिमान ॥६॥

हिंगुल, गेरु समान तथा फिर सूर्य नवोदित-तुल्य सुवर्ण।
शुक की चोच व दीप्त-शिखा सम, तेजो लेश्या का है वर्ण ॥७॥

प्रवर भिन्न हरिताल तथा फिर भिन्न हरिद्रा-तुल्य कहा।
सण व असन के सुम सम पीत पद्म लेश्या का वर्ण रहा ॥८॥

शख, अक-मणि, कुन्द कुसुम, दुग्ध-धार फिर रजत समान।
मुक्ताहार समान शुक्ल लेश्या का वर्ण कहा मतिमान ॥९॥

कटु तुम्बक-रस, कटुक निम्ब-रस कटुक रोहणी-रस से भी।
जान अनन्त गुनाधिक कटुक, कृष्ण लेश्या के रस को भी ॥१०॥

त्रिकटु और हस्ती-पीपल-रस जैसा होता तीक्ष्ण महान।
उससे तीक्ष्ण अनन्त गुनाधिक नीला का रस है पहचान ॥११॥

कच्चे आम, कपित्थ-तुवर रस ज्यो कि कसैला है होता।
उससे जान अनन्त गुनाधिक कापोता का रस होता ॥१२॥

पक्व कपित्थ व पक्व आम-रस जैसा खट-मीठा होता ।
इससे अधिक अनन्त गुना, तेजो लेश्या का रस होता ॥१३॥

प्रवर सुरा फिर विविध आसवो या मधु मैरेयक-रस होता ।
उससे जान अनन्त गुनाधिक अम्ल, पद्म लेश्या-रस होता ॥१४॥

खजूर, दाख, क्षीर, शक्कर या खांड मधुर रस जैसा होता ।
उससे अधिक अनन्त गुना रस मधुर शुक्ल लेश्या का होता ॥१५॥

मृतक गाय, फिर मृतक श्वान या मृतक सर्प मे जैसी गंध ।
अप्रशस्त लेश्याओ मे उससे भी अनन्त गुना दुर्गंध ॥१६॥

सुरभित सुम या पिष्यमाण केशरी-कस्तूरी से भी बढकर ।
गंध अनन्त गुना है तीनो प्रशस्त लेश्याओ की सुखकर ॥१७॥

करवत, गो-जिह्वा फिर शाकपत्र का जैसा होता स्पर्श ।
उससे अधिक अनन्त गुना अप्रशस्त लेश्याओ का स्पर्श ॥१८॥

बूर तथा नवनीत सरीष-कुसुम का मृदु होता ज्यो स्पर्श ।
प्रशस्त लेश्यात्रय का उससे भी अनन्त गुण मृदु है स्पर्श ।१९॥

तीन तथा नौ, सप्त बीस, इक्यासी दो सौ तेतालीस ।
इतने है लेश्याओ के परिणाम यहाँ कहते जगदीश ॥२०॥

पंचाश्रवी, त्रिगुप्ति-अगुप्त व छह कायो मे अविरत है ।
तीव्रारभ-रक्त जो क्षुद्र, साहसिक, नित्य पापरत है ॥२१॥

इह-परलौकिक शकारहित, नृशस और अजितेन्द्रिय होता ।
जो इन सब से युक्त, कृष्ण लेश्या मे वह परिणत है होता ॥२२॥

ईर्ष्यालु, कदाग्रही व मायी, अतपस्वी, शठ, लज्जाहीन ।
गृद्ध, अज्ञ, द्वेषी, प्रमत्त, रसलोल, सुखैषी, पाप-प्रवीण ॥२३॥

फिर आरम्भ-अनुपरत, क्षुद्र व अविचारित जो करता कृत्य ।
इन सबसे वह युक्त, नील लेश्या मे परिणत होता नित्य ॥२४॥

वचन-वक्र, फिर वक्राचारी, कपटी जो कि सरलता-हीन ।
अपने दोष छुपाता, मिथ्यादृष्टि, अनार्य, छद्म मे लीन ॥२५॥

दर्वचनी, हँसोड, चोर, मत्सरी मनुज जो होता है ।
इन सबसे युत, वह कपोत लेश्या मे परिणत होता है ॥२६॥

नमनशील अचपल अकुतूहल मायारहित व विनय-निपुण फिर।
दान्त समाधि-युक्त उपधान-तपस्या करने वाला जो नर ॥२७॥

दृढधर्मी, प्रियधर्मी, पाप-भीरु है, मुक्ति-गवेषक वर।
इन सब से युत, वह तेजो लेश्या मे परिणत होता नर ॥२८॥

क्रोध मान माया व लोभ जिस नर के हृदय स्वल्पतम है।
समाधि-युत, उपधानवान, दान्तात्मा और शान्त-मन है ॥२९॥

अतीव मितभाषी उपशान्त जितेन्द्रिय होता आर्य प्रवर।
इन सबसे जो युक्त, पद्म लेश्या मे परिणत होता नर ॥३०॥

आर्त्त-रौद्र को छोड धर्म फिर शुक्ल ध्यान में रहता लीन।
समित, प्रशान्त-चित्त, दान्तात्मा, गुप्ति-गुप्त जो मनुज प्रवीण ॥३१॥

सराग या फिर वीतराग, उपशान्त जितेन्द्रिय सयत है।
इन सब से जो युक्त, शुक्ल लेश्या में होता परिणत है ॥३२॥

असख्य कालचक्र के समय व तथा असख्य लोक के जान।
जितने होते है प्रदेश, उतने हैं लेश्याओ के स्थान ॥३३॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त स्थिति, उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या की जान।
अन्तर्मुहूर्त काल अधिक तेतीस सागरोपम परिमाण ॥३४॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त स्थिति, उत्कृष्ट नील लेश्या की जान।
पल्योपम के असख्यातवे भाग अधिक दश सागर मान ॥३५॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त स्थिति, उत्कृष्ट तीन सागर उपमान।
और पल्य के असख्यातवे भाग अधिक कापोतिक जान ॥३६॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त स्थिति, उत्कृष्ट उभय सागर परिमाण।
और पल्य के असख्यातवे भाग अधिक तेजस् की जान ॥३७॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त स्थिति, उत्कृष्ट पद्म लेश्या की जान।
अन्तर्मुहूर्त काल अधिक दश सागर की होती मतिमान! ॥३८॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त स्थिति उत्कृष्ट शुक्ल लेश्या की जान।
अन्तर्मुहूर्त काल अधिक तेतीस सागरोपम परिमाण ॥३९॥

लेश्याओ की औघतया स्थिति यह वर्णित की गई श्रमण!
चारो गतियो मे लेश्या-स्थिति का अब करता हू वर्णन ॥४०॥

दश सहस्राब्द जघन्य स्थिति, अधिकाधिक कापोता की जान ।
पल्योपम के असंख्यातवे भाग अधिक सागरत्रय मान ॥४१॥

जघन्य पल्य असख्य विभाग अधिक सागरत्रय, नील-स्थिति है ।
पल्य असख्य विभाग अधिक दश सागर की उत्कृष्ट कथित है ॥४२॥

जघन्य पल्य असख्य विभाग अधिक दश सागर स्थिति वर्णित है ।
तीन तीस सागर उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या की स्थिति निर्णित है ॥४३॥

यह है नारक जीवो के लेश्याओ की स्थिति का वर्णन ।
यहाँ करूँगा अब तिर्यग् नर सुर लेश्या-स्थिति का वर्णन ॥४४॥

छोड शुक्ल लेश्या को नर पशुओ मे जितनी लेश्या होती ।
इन सब की उत्कृष्ट जघन्यतया स्थिति अतर्मुहूर्त होती ॥४५॥

जघन्य अतर्मुहूर्त मान शुक्ल लेश्या की स्थिति पहचान ।
नौ वत्सर कम कोटि पूर्व की स्थिति उत्कृष्ट कही मतिमान ॥४६॥

किया गया है यह तिर्यग् नर लेश्याओ की स्थिति का वर्णन ।
यहाँ करूँगा अब देवो की लेश्याओ की स्थिति का वर्णन ॥४७॥

जघन्य दश हजार वर्षो की स्थिति, उत्कृष्टतया पहचान ।
कृष्णा की है पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण ॥४८॥

कृष्णोत्कृष्टाऽवधि से समयाधिक नील-स्थिति जघन्य जानो ।
पल्य असख्य भाग जितनी उत्कृष्टतया स्थिति है पहचानो ॥४९॥

नीलोत्कृष्टाऽवधि से समयाधिक कापोता की जघन्य है ।
पल्य असख्य भाग जितनी उत्कृष्टतया स्थिति यहाँ गण्य है ॥५०॥

भवनाधिप व्यन्तर व ज्योतिपी, वैमानिक देवो की सत्वर ।
तेजो लेश्या की स्थिति का अब वर्णन यहाँ करूँगा सुन्दर ॥५१॥

जघन्य एक पल्य की स्थिति तेजो की, अब उत्कृष्ट विधान ।
पल्योपम के असख्यातवें भाग अधिक दो सागर मान ॥५२॥

तेजो लेश्या की कम से कम दश हजार हायन की स्थिति है ।
पल्य असख्य विभाग अधिक दो सागर की स्थिति अधिकाधिक है ॥५३॥

तेजो की उत्कृष्ट अवधि से समयाधिक कम से कम जान ।
पद्मा की उत्कृष्ट अवधि दश सागर अतर्मुहूर्त मान ॥५४॥

पद्मोत्कृष्टाऽवधि से समयाधिक जघन्यत. शुक्ल स्थिति है।
अतर्मुहूर्त ज्यादा तीन तीस सागर उत्कृष्ट अवधि है ॥५५॥

कृष्ण नील कापोत तीन ये अधर्म लेश्याएँ पहचान।
इन तीनों से दुर्गति मे जाता है जीव, समझ मतिमान ॥५६॥

तेजस् पद्म शुक्ल ये तीनो कही धर्म लेश्याए अत्र।
इन तीनों से जीव सुगति में जाता, सधता अत्र-परत्र ॥५७॥

प्रथम समय मे परिणत इन सब लेश्यायो मे कोई प्राणी।
नही दूसरे भव में पैदा होता है यह प्रभु की वाणी ॥५८॥

चरम समय मे परिणत इन सब लेश्याओ में कोई प्राणी।
नही दूसरे भव मे पैदा हो सकता, यह प्रभु की वाणी ॥५९॥

अतर्मुहूर्त जाने पर अन्तर्मुहूर्त जब रहता शेष।
लेश्याओ की इस स्थिति मे पर-भव में जाते जीव अशेष ॥६०॥

इसीलिए इन लेश्याओं के अनुभागों को समझ सुजान।
अप्रशस्त तज प्रशस्त को स्वीकार करे जो मनुज महान ॥६१॥

पैतीसवाँ अध्ययन

अनगार-मार्गगति

हो एकाग्र सुनो मेरे से बुद्ध-प्रवेदित मार्ग तुरन्त ।
जिसका करता हुआ आचरण, भिक्षु दुखो का करता अन्त ॥१॥

छोड गृहस्थ वास को, कर स्वीकार प्रव्रज्या को मुनिवर ।
वह इन सगो को जाने, जिनसे कि लिप्त होते हैं नर ॥२॥

हिंसा झूठ तथा चोरी अब्रह्म-निसेवन का परिहार ।
इच्छा काम व लोभ सर्वथा तजे सयमी मुनि हर बार ॥३॥

माल्य-धूप से वासित, मनहर, चित्रित-गृह सकपाट सही ।
श्वेत चन्दवा युक्त स्थान की मन से इच्छा करे नही ॥४॥

उस प्रकार के कामराग-सवर्धक उपाश्रयो मे जान ।
मुनि के लिए इन्द्रियो पर काबू कर पाना कठिन महान ॥५॥

अत श्मशान वृक्ष के नीचे शून्यागार स्थान एकान्त ।
पर-कृत गृह मे एकाकी मुनि रहना चाहे, दान्त नितान्त ॥६॥

प्रासुक, अनाबाध, नारीगण-उपद्रवो से विरहित स्थान ।
वहाँ वास करने का शुभ सकल्प करे मुनिवर गुणवान ॥७॥

न स्वय सदन बनाए, पर से भी बनवाए नही भिक्षुवर ।
गृह-निर्माण कार्य मे भूतो का वध होता है दृग्-गोचर ॥८॥

त्रस या स्थावर सूक्ष्म व बादर जीवो का होता प्रहनन ।
अत सयती गृहारम्भ कार्यो का त्याग करे शुभ मन ॥९॥

भक्त-पान के पचन व पाचन मे त्यो होती हिसा जान ।
अत पचन, पाचन को छोडे जीव-दयार्द्र श्रमण मतिमान ॥१०॥

जल-आश्रित, धान्याश्रित, भूम्याश्रित, काष्ठाश्रित प्राणी मरते ।
अत. न भक्त-पान पकवाए, भिक्षु शान्त मन सदा विचरते ॥११॥

प्रसरणील, सर्वतोधार व बहुत जीव-नाशक कहलाए ।
अग्नि समान न शस्त्र दूसरा अत. न उसको भिक्षु जलाए ॥१२॥

स्वर्ण, लोष्ट को समान समझे, क्रय-विक्रय से विरत प्रवर ।
स्वर्ण, रजत को मन से कभी नही चाहे, सच्चा मुनिवर ॥१३॥

क्रय करने से क्रयिक और विक्रय से वणिक् कहा जाता ।
क्रय-विक्रय मे वर्तन करने वाला भिक्षु न कहलाता ॥१४॥

भिक्षाशील भिक्षु को भिक्षा-वृत्ति उचित, क्रेतव्य नही है ।
महादोष है क्रय-विक्रय सुखदायक भिक्षा-वृत्ति कही है ॥१५॥

सूत्र-अनिन्दित फिर समुदानिक उञ्छएषणा श्रमण करे ।
तुष्ट अलाभ-लाभ मे, पिण्डपात की चर्या वहन करे ॥१६॥

अलोल फिर रस-अगृद्ध जिह्वा-दान्त अमूर्छित महामुनि ।
रस के लिए न खाए, सयम यापनार्थ खाए सुगुणी ॥१७॥

ऋद्धि, अर्चना, रचना, पूजा, मान, वन्दना या सत्कार ।
इनकी मन से भी न कभी अभिलाषा करे, महा अनगार ॥१८॥

शुक्ल-ध्यान ध्याए, अनिदान अकिंचन रहे सतत मतिमत ।
मुनि व्युत्सृष्ट काय होकर विचरे जग मे जीवन पर्यन्त ॥१९॥

काल-धर्म समुपस्थित होने पर, करके भोजन परिहार ।
मुनि समर्थ, नरदेह छोड़ सब दु:ख-मुक्त होता अनगार ॥२०॥

निर्मम निरहंकार अनाश्रव वीतराग बन जाता है ।
शाश्वत केवलज्ञान प्राप्त कर, परिनिर्वृत हो जाता है ॥२१॥

छत्तीसवाँ अध्ययन

जीवाजीव-विभक्ति

हो एकाग्र सुनो अब मुझसे जीवाजीव-विभाग प्रधान।
जिन्हे जान सम्यग् सयम मे करता श्रमण प्रयत्न महान ॥१॥

जीव तथा जो अजीवमय है कहा गया है लोक उसे।
है अजीव का देशाकाश निकेवल, कहा अलोक उसे ॥२॥

द्रव्य क्षेत्र फिर काल भाव से चार प्रकार कही मतिमान।
प्ररूपणा इन जीव-अजीव उभय की स्पष्टतया पहचान ॥३॥

रूपी और अरूपी भेद उभय, अजीव के यहाँ कहे।
तथा अरूपी के दश भेद व रूपी के फिर चार कहे ॥४॥

है धर्मास्तिकाय फिर उसका देश तथा फिर प्रदेश जान।
और अधर्म-स्कन्ध, तद्देश, प्रदेश भेद है कहे सुजान! ॥५॥

फिर आकाश-स्कन्ध, तद्देश, प्रदेश भेद ये तीन कहे।
अध्वासमय भेद दसवाँ, यो अरूप के दश भेद रहे ॥६॥

धर्माऽधर्म उभय ये लोकप्रमाण कहे है, शिष्य सुजान!
लोकालोक मान आकाश, काल है समय-क्षेत्र परिमाण ॥७॥

धर्माधर्माकाश तीन ये द्रव्य अनादि अनन्त महान।
और सार्वकालिक ये होते हैं इनको समझो मतिमान ॥८॥

है प्रवाह सापेक्ष तथा यह काल अनादि अनन्त यहाँ।
हर क्षण अलग अलग होने से सादि सान्त फिर इसे कहा ॥९॥

स्कन्ध व स्कन्ध-देश फिर स्कन्ध-प्रदेश और परमाणु सुजान!
रूपी पुद्गल के ये चार विभेद किए हैं, तू पहचान ॥१०॥

वह परमाणु इकट्ठे होने पर बनता है स्कन्ध महान।
उसका पृथक्त्व होने से, बनते परमाणु, यहाँ पहचान।

क्षेत्र अपेक्षा से वे लोक-देश मे या सर्वत्र भाज्य सब॥
उनका काल-विभाग चतुर्विध, यहाँ कहूंगा तेरे से अब ॥११॥

सभी प्रवाह-अपेक्षा से वे यहाँ अनादि अनन्त कहे।
स्थिति सापेक्षतया वे सारे सादि सान्त, फिर यहाँ रहे ॥१२॥

जघन्य एक समय की फिर, उत्कृष्ट असख्य-काल परिमाण।
रूपी अजीव द्रव्यो की यह स्थिति वर्णित है, तू पहचान ॥१३॥

जघन्य एक समय का फिर उत्कृष्ट अनन्त काल-परिमाण।
रूपी अजीव द्रव्यो का यह अन्तर कहा गया मतिमान ॥१४॥

वर्ण गध फिर रस स्पर्श संस्थान अपेक्षा से पहचान।
पाँच तरह से उन सबका परिवर्तन होता है मतिमान ! ॥१५॥

वर्ण अपेक्षा से उनकी परिणति होती फिर पाँच प्रकार।
कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र व शुक्ल नाम से है साकार ॥१६॥

दो प्रकार से परिणति होती गंध अपेक्षा से फिर उनकी।
सुरभि गध या फिर दुर्गंध नाम से यहाँ ख्याति है जिनकी ॥१७॥

रस-सापेक्षतया फिर उनकी परिणति पाँच प्रकार कथित है।
तिक्त कटुक व कसैला खट्टा मधुर नाम से जो कि प्रथित है ॥१८॥

स्पर्श अपेक्षा से फिर उनकी परिणति होती आठ प्रकार।
कर्कश प्रथम तत. मृदु फिर गुरु, लघु प्रभेद चौथा साकार ॥१९॥

तत शीत फिर उष्ण तथा फिर स्निग्ध, रूक्ष फिर हैं आख्यात।
सभी स्पर्श से ये परिणत हैं पुद्गल सज्ञा से प्रख्यात ॥२०॥

सस्थानापेक्षा से उनकी परिणति होती पाँच प्रकार।
है परिमंडल, वृत्त, त्रिकोण, चतुष्क और आयत आकार ॥२१॥

जो कि वर्ण से कृष्ण, पौद्गलिक होता स्कध, यहाँ पहचान।
वह संस्थान, गध, रस और स्पर्श से होता भाज्य, सुजान ! ॥२२॥

जो कि वर्ण से नील, पौद्गलिक होता स्कध, यहाँ पहचान।
वह संस्थान, गध, रस और स्पर्श से होता भाज्य, सुजान ! ॥२३॥

जो कि वर्ण से रक्त, पौद्गलिक होता स्कध, यहाँ पहचान।
वह सस्थान, गध, रस और स्पर्श से होता भाज्य, सुजान ॥२४॥

जो कि वर्ण से पीत, पौद्गलिक होता स्कध, यहाँ पहचान।
वह सस्थान, गध, रस और स्पर्श से होता भाज्य, सुजान ! ॥२५॥

जो कि वर्ण से श्वेत, पौद्गलिक होता स्कंध, यहाँ पहचान।
वह सस्थान, गध, रस और स्पर्श से होता भाज्य, सुजान! ॥२६॥

जो कि गध से सुगन्ध वाला होता पुद्गल-स्कन्ध विशेष।
वह सस्थान, वर्ण, रस और स्पर्श से होता भाज्य, अशेष! ॥२७॥

जो कि गध से होता है दुर्गंध युक्त पुद्गल पहचान।
वह सस्थान, वर्ण, रस और स्पर्श से होता भाज्य, सुजान! ॥२८॥

रस से जो कि तिक्त होता है पुद्गल-स्कन्ध, यहाँ पहचान।
वर्ण, गध, संस्थान, स्पर्श से होता है वह भाज्य, सुजान! ॥२९॥

जो रस से कडुवा होता है पुद्गल स्कन्ध, यहाँ पहचान।
वर्ण, गध, सस्थान, स्पर्श से होता है वह भाज्य, सुजान! ॥३०॥

रस से जो कि कसैला होता पुद्गल-स्कन्ध, यहाँ पहचान।
वर्ण, गध, सस्थान, स्पर्श से होता है वह भाज्य, सुजान! ॥३१॥

रस से जो खट्टा होता है पुद्गल-स्कन्ध, यहाँ पहचान।
वर्ण, गध, सस्थान, स्पर्श से होता है वह भाज्य, सुजान! ॥३२॥

रस से जो कि मधुर होता है पुद्गल-स्कन्ध, यहाँ पहचान।
वर्ण, गध, सस्थान, स्पर्श से होता है वह भाज्य, सुजान! ॥३३॥

जो कि स्पर्श से कर्कश होता पुद्गल-स्कन्ध, यहाँ पहचान।
वह सस्थान व वर्ण, गध, रस से भाजित होता मतिमान! ॥३४॥

जो कि स्पर्श से मृदु होता है पुद्गल-स्कंध यहाँ पहचान।
वह सस्थान व वर्ण, गध, रस से भाजित होता मतिमान! ॥३५॥

जो कि स्पर्श से गुरु होता है पुद्गल-स्कन्ध, यहाँ पहचान।
वह सस्थान व वर्ण, गध, रस से भाजित होता मतिमान! ॥३६॥

जो कि स्पर्श से लघु होता है पुद्गल-स्कध, यहाँ पहचान।
वह सस्थान व वर्ण, गध, रस से भाजित होता मतिमान! ॥३७॥

जो कि स्पर्श से शीत पौद्गलिक होता स्कध, यहाँ पहचान।
वह संस्थान व वर्ण, गध, रस से भाजित होता मतिमान! ॥३८॥

जो कि स्पर्श से उष्ण पौद्गलिक होता स्कध, यहाँ पहचान।
वह संस्थान व वर्ण, गध, रस से भाजित होता मतिमान! ॥३९॥

जो कि स्पर्श से स्निग्ध पौद्गलिक होता स्कध, यहाँ पहचान ।
वह सस्थान व वर्ण, गध, रस से भाजित होता मतिमान ! ॥४०॥

जो कि स्पर्श से रूक्ष पौद्गलिक होता स्कध, यहाँ पहचान ।
वह सस्थान व वर्ण, गध, रस से भाजित होता मतिमान ! ॥४१॥

परिमडल सस्थान युक्त पौद्गलिक स्कध होता मतिमान !
वर्ण, गध, रस और स्पर्श से वह भाजित होता, पहचान ॥४२॥

जो वर्तुल सस्थान युक्त होता है पुद्गल-स्कध, सुजान !
वर्ण, गध, रस और स्पर्श से वह भाजित होता, पहचान ॥४३॥

जो त्रिकोण सस्थान युक्त होता है पुद्गल-स्कध, सुजान !
वर्ण, गध, रस और स्पर्श से वह भाजित होता, पहचान ॥४४॥

चतुष्कोण सस्थानवान जो होता पुद्गल-स्कन्ध, सुजान !
वर्ण, गध, रस और स्पर्श से वह भाजित होता, पहचान ॥४५॥

जो आयत-सस्थानवान होता है पुद्गल-स्कध, सुजान !
वर्ण, गध, रस और स्पर्श से वह भाजित होता, पहचान ॥४६॥

यह सक्षिप्त अजीव-विभाग कहा है मैंने हे मतिमान !
अब क्रमश मै जीव-विभाग कहूँगा, शिष्य ! सुनो धर ध्यान ॥४७॥

दो प्रकार के जीव कहे हैं ससारी व सिद्ध भगवान ।
सिद्धो के है भेद अनेकों उन्हे कहूँगा सुनो सुजान ! ॥४८॥

है स्त्रीलिग सिद्ध, पुल्लिग, नपुसकलिग सिद्ध पहचान ।
और स्वलिग व अन्यलिग गृहलिग सिद्ध, ये भेद महान ॥४९॥

फिर उत्कृष्ट, जघन्य व मध्यम कद मे, जलाशयो मे सिद्ध ।
अध व तिर्यग्, ऊर्ध्व लोक मे और उदधि मे होते सिद्ध ॥५०॥

एक समय मे क्लीवलिग दश और बीस नारियाँ-प्रधान ।
प्रवर एक सौ आठ पुरुष, हो सकते सिद्ध, यहाँ पहचान ॥५१॥

गृहीलिग मे चार, अन्यलिगी दश, स्वलिग मे फिर जान ।
अष्टोत्तर शत एक समय मे हो सकते हैं सिद्ध महान ॥५२॥

जघन्य कद मे चार व मध्यम कद मे अष्टोत्तर शत मान ।
उत्कृष्टाऽवगाहना मे दो युगपद् होते सिद्ध सुजान ! ॥५३॥

ऊर्ध्व लोक मे चार, सिन्धु मे दो फिर जल मे तीन प्रसिद्ध ।
अध. वीस, तिरछे मे अष्टोत्तर शत, एक समय मे सिद्ध ॥५४॥

सिद्ध कहाँ रुकते हैं, कहाँ प्रतिष्ठित होते सिद्ध महान ?
कहाँ छोडते तन को, होते जाकर कहाँ सिद्ध भगवान ॥५५॥

अलोक मे रुकते हैं सिद्ध और लोकाग्र भाग में स्थित है ।
यहाँ देह को छोड वहाँ जाकर के होते सिद्ध प्रथित हैं ॥५६॥

है सर्वार्थसिद्ध से वारह योजन ऊपर छत्राकार ।
पृथ्वी ईषत्-प्राग्भारा सज्ञा से विश्रुत है ससार ॥५७॥

लम्बी-चौड़ी है वह पैंतालीस लाख योजन परिमाण ।
उससे तिगुनी परिधि सिद्ध शिला की कही गई मतिमान ॥५८॥

मध्य भाग मे शिला आठ योजन की मोटी, फिर वह क्रम से ।
हीय मान मक्षिका-पख से भी पतली अन्तिम-अचल से ॥५९॥

श्वेत सुवर्णमयी स्वभाव से वह निर्मल पृथ्वी पहचान ।
फिर उत्तान छत्रकाऽऽकारवती जिनवर ने कही महान ॥६०॥

शंख, अकमणि, कुन्द कुसुम सम, श्वेत शुद्ध वह अति निर्मल ।
उस सीता पृथ्वी से योजन ऊपर है लोकान्त अचल ॥६१॥

उस योजन के ऊपर का जो कोस प्रमाण वहाँ आकाश ।
उसके छट्ठे हिस्से मे सिद्धो की जहाँ अवस्थिति खास ॥६२॥

महाभाग वे सिद्ध वहाँ लोकाग्र-भाग मे सुस्थित हैं ।
भव-प्रपच से मुक्त, प्रधान सिद्धगति-गत, आत्म-स्थित हैं ॥६३॥

अन्तिम भव मे जिस मानव की जितनी ऊचाई है होती ।
उससे एक तिहाई कम, पहचान अवस्थिति उसकी होती ॥६४॥

वे एकत्व अपेक्षा से हैं सादि अनन्त कहे अम्लान ।
और वहुत अपेक्षा से वे सिद्ध अनादि, अनन्त महान ॥६५॥

सघन अरूपी और ज्ञान दर्शन में सोपयुक्त सतत हैं ।
अनुपम अतुल सौख्य-सपन्न सिद्ध होते है, सही कथित है ॥६६॥

सतत ज्ञान-दर्शन-उपयुक्त व लोक एक देश स्थित हैं ।
भवसागर निस्तीर्ण, श्रेष्ठ गति को सप्राप्त, सुशोभित हैं ॥६७॥

हैं ससारी जीव यहाँ पर दो प्रकार से कथित सुजान !
त्रस, स्थावर दो भेद व स्थावर के है तीन भेद पहचान ॥६८॥

पृथ्वी, पानी और वनस्पति मूल भेद स्थावर के तीन ।
अब उत्तर भेदो को मुझसे सुनो शिष्य ! हो कर तल्लीन ॥६६॥

पृथ्वी-जीवो के विभेद दो, सूक्ष्म और बादर पहचान ।
इनके दो-दो भेद कहे फिर अपर्याप्त, पर्याप्त महान ॥७०॥

अब बादर पर्याप्त भूमि-जीवो के दो विभेद आख्यात ।
पहला मृदु व कठोर दूसरा, मृदु के भेद कहे फिर सात ॥७१॥

कृष्ण नील फिर रक्त पीत फिर श्वेत पांडु फिर पनक कही ।
कठोर पृथ्वी के जीवो के है छत्तीस प्रभेद सही ॥७२॥

पृथ्वी, उपल, शर्करा, शिला, बालुका, लवण व नौनी जान ।
लोहा, रागा, तावा, शीशा, रजत, सुवर्ण, वज्र पहचान ॥७३॥

मन शिला, हिंगुल, प्रवाल, फिर सस्यक, अजन है हरिताल ।
अभ्रक पटल, अभ्र बालुक, अब सुन बादर मणियो के हाल ॥७४॥

गोमेदक फिर रुचक अंकमणि स्फटिक व लोहिताक्ष पहचान ।
मरकत, मसारगल्ल रत्न, भुज मोचक, इन्द्रनील मणि जान ॥७५॥

चन्दन, गेरुक, हसगर्भ मणि, पुलक व सौगन्धिक बोधव्य ।
चन्द्रप्रभ, वैडूर्य व सूर्यकान्त जलकान्त भेद श्रोतव्य ॥७६॥

कठोर पृथ्वी के जीवो के ये छत्तीस भेद आख्यात ।
सूक्ष्म भूमि-प्राणी अविविध होने से एक भेद प्रख्यात ॥७७॥

सर्व लोक मे व्याप्त सूक्ष्म, फिर लोक एक भाग स्थित बादर ।
अब मै इनका काल-विभाग चतुर्विध यहाँ, कहूँगा स्फुटतर ॥७८॥

सतत प्रवाह अपेक्षा से वे यहाँ अनादि अनन्त कहे ।
स्थिति सापेक्षतया पृथ्वी के सादि सान्त सब जीव रहे ॥७६॥

उन जीवो की जघन्यत. आयुस्थिति अन्तर्मुहूर्त मान ।
उत्कृष्टायु स्थिति उनकी बाईस हजार वर्ष परिमाण ॥८०॥

पृथ्वी जीवो की काय-स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त मान ।
सतत जन्म है वही अत. उत्कृष्ट असंख्य काल परिमाण ॥८१॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त है उत्कृष्ट अनन्त काल परिमाण।
पृथ्वी जीवों का फिर वही जन्म लेने का अन्तर जान ॥८२॥

वर्ण, गध फिर रस, स्पर्श संस्थान अपेक्षा से पहचान।
उनके फिर यो भेद हजारो होते हैं समझो मतिमान ! ॥८३॥

जल जीवों के दो विभेद है, सूक्ष्म और वादर पहचान।
फिर इनके दो-दो प्रभेद हैं अपर्याप्त पर्याप्त महान ॥८४॥

अप्कायिक वादर पर्याप्त जीव फिर पाँच प्रकार कथित हैं।
शुद्धोदक फिर हरतनु और कुहासा फिर हिम-सलिल प्रथित हैं ॥८५॥

सूक्ष्म सलिल प्राणी अविविध होने से एक भेद मित है।
सर्व लोक में व्याप्त व वादर लोक एक भाग स्थित हैं ॥८६॥

सतत प्रवाह-अपेक्षा से वे जीव अनादि अनन्त रहे।
स्थिति सापेक्षतया पानी के जीव सादि फिर सान्त कहे ॥८७॥

उन जीवो की जघन्यतः आयु स्थिति अन्तर्मुहूर्त मान।
उत्कृष्टायु-स्थिति है उनकी सात हजार वर्ष परिमाण ॥८८॥

जल के जीवो की काय-स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त मान।
सतत जन्म है वही अतः उत्कृष्ट असंख्य काल परिमाण ॥८९॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त है उत्कृष्ट अनन्त काल परिमाण।
पानी जीवों का फिर पानी मे आने का अन्तर जान ॥९०॥

वर्ण, गध फिर रस, स्पर्श संस्थान अपेक्षा से पहचान।
उनके फिर यों भेद हजारो होते हैं, समझो मतिमान ! ॥९१॥

दो प्रकार के कहे वनस्पति जीव, सूक्ष्म वादर पहचान।
फिर उनके दो-दो प्रभेद हैं अपर्याप्त पर्याप्त महान ॥९२॥

अब वादर पर्याप्त हरित जीवों के होते है दो भेद।
पहला साधारण-शरीर है फिर प्रत्येक-शरीर प्रभेद ॥९३॥

अब प्रत्येक-शरीर हरित प्राणी नाना विध हैं आख्यात।
वृक्ष, गुच्छ फिर गुल्म, लता, वल्ली, तृण भेद यहाँ प्रख्यात ॥९४॥

लता-वलय, पर्वज व कुहण, जलरूह, हरित, औषधि-तृण, जान।
ये प्रत्येक-शरीर हरित कायिक हैं जीव विविध, पहचान ॥९५॥

अब साधारण-शरीर वाले जीव बहुत-विध वर्णित हैं।
आलू, मूली, अदरख आदिक नामों से जो सुविदित है। ॥९६॥

हिरली, सिरिली, सिस्सिरिली, जावईकन्द, कदली सुजान !
केद-कदली-कन्द प्याज, लहसुन, फिर कुस्तुम्बुक पहचान ॥९७॥

लोही और कुहुक फिर कृष्ण तथा फिर वज्रकद पहचान।
सूरणकन्द आदि साधारण-हरितकाय के भेद प्रधान ॥९८॥

तथा अश्वकर्णी व सिंहकर्णी व मुसुंढी है ज्ञातव्य।
और हरिद्रादिक साधारण-शरीर है ये, समझो भव्य ! ॥९९॥

सूक्ष्म वनस्पति अविविध होने से फिर एक भेद मित है।
सर्व लोक व्याप्त व बादर लोक एक देश स्थित है ॥१००॥

सतत प्रवाह अपेक्षा से वे कहे अनादि अनन्त सुजान !
स्थिति सापेक्षतया वे हरित जीव है सादि सान्त पहचान ॥१०१॥

हरित प्राणियो की जघन्य आयु-स्थिति अन्तर्मुहूर्त मान।
उत्कृष्टायु-स्थिति है उनकी दश हजार हायन परिमाण ॥१०२॥

पनक प्राणियो की काय-स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त मान।
सतत जन्म है वही अत उत्कृष्ट अनन्त काल परिमाण ॥१०३॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त है उत्कृष्ट असंख्य काल परिमाण।
पनक प्राणियो का फिर वही जन्म लेने का अन्तर जान ॥१०४॥

वर्ण, गंध फिर रस, स्पर्श, सस्थान अपेक्षा से पहचान।
उनके फिर यो भेद हजारो होते है समझो मतिमान ! ॥१०५॥

तीन प्रकार स्थावरो का है यह संक्षिप्ततया वर्णन।
त्रिविध त्रसो का अब मैं क्रमश. यहाँ करूँगा सुनिरूपण ॥१०६॥

तेजस् वायु तथा उदार त्रसकाय ज्ञेय ये तीन विभेद।
अब मुझसे तुम सुनो यहाँ पर इन तीनो के बहुत प्रभेद ॥१०७॥

तेजस् कायिक दो प्रकार हैं सूक्ष्म और बादर पहचान।
फिर इनके दो-दो विभेद है अपर्याप्त पर्याप्त महान ॥१०८॥

अब बादर पर्याप्त अग्नि के जीव अनेक प्रकार कहे।
मुर्मुर, अग्नि, अर्चि, ज्वाला, अगार भेद फिर यहाँ रहे ॥१०९॥

उल्का, विद्युत् आदि अनेकों उसके भेद यहाँ बोधव्य।
सूक्ष्म अग्नि अविविध होने से एक भेद ही है ज्ञातव्य ॥११०॥

सर्व लोक मे व्याप्त सूक्ष्म है लोक एक भाग स्थित बादर।
अब इनका मैं काल-विभाग चतुर्विध, यहाँ कहूँगा स्फुटतर ॥१११॥

सतत प्रवाह अपेक्षा से वे कहे अनादि अनन्त सुजान!
स्थिति सापेक्षतया उन जीवो को तू सादि सान्त पहचान ॥११२॥

अग्निकाय की जघन्यत. आयु-स्थिति अन्तर्मुहूर्त मान।
उत्कृष्टायु-स्थिति है उनकी तीन रात-दिन की, मतिमान! ॥११३॥

तेजस् जीवो की काय-स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त मान।
सतत जन्म है वही अत: उत्कृष्ट असख्य काल परिमाण ॥११४॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अनन्त काल परिमाण।
अग्निकायिको का फिर वही जन्म लेने का अन्तर जान! ॥११५॥

वर्ण, गध फिर रस, स्पर्श, सस्थान अपेक्षा से पहचान।
उनके फिर यो भेद हजारो होते हैं समझो मतिमान! ॥११६॥

दो प्रकार के वायु जीव हैं, सूक्ष्म और बादर पहचान।
फिर इनके दो-दो विभेद है, अपर्याप्त पर्याप्त महान ॥११७॥

अब बादर पर्याप्त वायु के पाँच भेद होते मतिमान!
उत्कलिका, मडलिका, घन, गुजा फिर शुद्ध वायु पहचान ॥११८॥

सवर्तक, मारुत इत्यादि अनेक भेद फिर हैं आख्यात।
सूक्ष्म वायु अविविध होने से एक भेद ही है प्रख्यात ॥११९॥

सर्व लोक मे व्याप्त सूक्ष्म, फिर लोक एक भाग स्थित बादर।
काल-विभाग चतुर्विध इनका, यहाँ कहूँगा अब सुन सादर ॥१२०॥

सतत प्रवाह अपेक्षा से वे कहे अनादि अनन्त यहाँ।
स्थिति सापेक्षतया उनको फिर सादि सान्त हैं यहाँ कहा ॥१२१॥

वायुकाय की जघन्यत. आयु-स्थिति अन्तर्मुहूर्त मान।
उत्कृष्टायु-स्थिति इनकी है तीन हजार वर्ष परिमाण ॥१२२॥

मारुत जीवो की काय-स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त मान।
सतत जन्म है वही अत. उत्कृष्ट असंख्य काल परिमाण ॥१२३॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त है उत्कृष्ट अनन्त काल परिमाण।
वायुकायिको का फिर वही जन्म लेने का अन्तर जान ॥१२४॥

वर्ण, गध फिर रस, स्पर्श, सस्थान अपेक्षा से पहचान।
उनके फिर यो भेद हजारो होते है समझो मतिमान! ॥१२५॥

अब उदार त्रस जीव यहाँ पर चार प्रकार प्रकीर्तित है।
द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पचेन्द्रिय संज्ञा निर्णित है ॥१२६॥

द्वीन्द्रिय प्राणी दो प्रकार से यहाँ कथित है तू पहचान।
अपर्याप्त पर्याप्त तथा फिर उनके भेद सुनो मतिमान! ॥१२७॥

कृमि, सौमगल, अलस, मातृवाहक नामक प्राणी पहचान।
वासीमुख फिर सीप, शख फिर शखनकादिक है मतिमान! ॥१२८॥

फिर पल्लोय, अणुल्लक, कोडी नामो से वे है आख्यात।
जोक और जालक, चन्दनिया, आदिक सज्ञा है प्रख्यात ॥१२९॥

इत्यादिक ये द्वीन्द्रिय प्राणी-गण, होते नाना विध है।
वे सर्वत्र नही होते हैं, लोक एक भाग-स्थित हैं ॥१३०॥

सतत प्रवाह अपेक्षा से वे कहे अनादि अनन्त सुजान!
स्थिति सापेक्षतया फिर उन्हे कहा है सादि सान्त पहचान ॥१३१॥

द्वीन्द्रिय जीवो की जघन्य आयु-स्थिति अन्तर्मुहूर्त मान।
उत्कृष्टायु-स्थिति उन जीवो की है बारह वर्ष-प्रमाण ॥१३२॥

द्वीन्द्रिय जीवो की काय-स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त मान।
सतत जन्म है वही अत संख्यात काल उत्कृष्ट विधान ॥१३३॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त है उत्कृष्ट अनन्त काल परिमाण।
द्वीन्द्रिय जीवो का फिर वही जन्म लेने का अन्तर जान ॥१३४॥

वर्ण, गध फिर रस, स्पर्श, सस्थान अपेक्षा से पहचान।
उनके फिर यो भेद हजारो होते हैं समझो मतिमान! ॥१३५॥

त्रीन्द्रिय प्राणी दो प्रकार के यहाँ कथित हैं तू पहचान।
अपर्याप्त पर्याप्त तथा फिर अब उनके सुन भेद सुजान! ॥१३६॥

चीटी, खटमल, मकडी, दीमक, कुथु, तृणाहारक पहचान।
काष्ठाहारक, मालुक, पत्राहारक सज्ञा हैं मतिमान! ॥१३७॥

कार्पासास्थिक, मिजक, तिन्दुक और त्रपुप मिजक ज्ञातव्य ।
शतावरी फिर कानखजूरी और इन्द्रकायिक है, भव्य ! ॥१३८॥

इन्द्रगोप आदिक त्रीन्द्रिय प्राणी होते नाना विध हैं ।
वे सर्वत्र नही होते हैं, लोक एक भाग स्थित हैं ॥१३९॥

सतत प्रवाह अपेक्षा से वे कहे अनादि अनन्त सुजान !
स्थिति सापेक्षतया फिर उन्हे कहा है सादि सान्त पहचान ॥१४०॥

त्रीन्द्रिय जीवो की जघन्य आयु-स्थिति अन्तर्मुहूर्त मान ।
उत्कृष्टायु-स्थिति उनकी उनचास दिवस की है मतिमान! ॥१४१॥

त्रीन्द्रिय जीवो की काय-स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त मान ।
सतत जन्म है वही अत सख्येय काल उत्कृष्ट विधान ! ॥१४२॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त है उत्कृष्ट अनन्त काल परिमाण ।
त्रीन्द्रिय जीवों का फिर वहीं जन्म लेने का अन्तर जान ॥१४३॥

वर्ण, गंध फिर रस, स्पर्श, संस्थान अपेक्षा से पहचान ।
उनके फिर यो भेद हजारो होते है समझो मतिमान ! ॥१४४॥

अब चतुरिन्द्रिय प्राणी दो प्रकार से कथित यहाँ पहचान ।
अपर्याप्त पर्याप्त तथा फिर सुन उनके अव भेद प्रधान ॥१४५॥

है अन्धिका, पोतिका और मक्षिका, मच्छर और भ्रमर ।
कीट, पतङ्ग व ढिकण, कुकुण आदिक नाम कहे मतिधर ! ॥१४६॥

कुक्कड व शृगरिटी, नन्दावर्त और वृश्चिक ज्ञातव्य ।
डोल, भृङ्गरीटक व अक्षिवेधक, विरली सज्ञा बोधव्य ॥१४७॥

अक्षिल, मागध व अक्षिरोडक विचित्रपत्रक व चित्रपत्रक ।
ओहिजलिया जलकारी नीचक फिर तन्तवकादिक नामक ॥१४८॥

इत्यादिक ये चतुरिन्द्रिय प्राणी होते नाना विध हैं ।
वे सर्वत्र नही होते हैं, लोक एक भाग स्थित हैं ॥१४९॥

सतत प्रवाह अपेक्षा से वे जीव अनादि अनन्त रहे ।
स्थिति सापेक्षतया चतुरिन्द्रिय जीव सादि फिर सान्त कहे ॥१५०॥

चतुरिन्द्रिय की जघन्यत आयु-स्थिति अन्तर्मुहूर्त मान ।
उत्कृष्टायु-स्थिति उनकी तुम पहचानो छह मास प्रमाण ॥१५१॥

चतुरिन्द्रिय की जघन्य काय-स्थिति है अन्तर्मुहूर्त मान।
सतत वही है जन्म अत उत्कृष्ट काल संख्येय प्रमाण ॥१५२॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त है उत्कृष्ट अनन्त काल परिमाण।
चतुरिन्द्रिय जीवो का वही जन्म लेने का अन्तर जान ॥१५३॥

वर्ण, गध फिर रस, स्पर्श, सस्थान अपेक्षा से पहचान।
उनके फिर यो भेद हजारो होते हैं, समझो मतिमान! ॥१५४॥

अब पचेन्द्रिय जीव यहाँ पर चार प्रकार प्रकीर्तित हैं।
नारक फिर तिर्यञ्च, मनुष्य, देव सज्ञा से अभिहित हैं ॥१५५॥

सात पृथ्वियो मे होने वाले नारक है सात प्रकार।
रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा फिर भेद विचार ॥१५६॥

पंकाभा, धूमाभा और तम. फिर तमस्तमा पहचान।
ये नारक के जीव सप्त विध परिकीर्तित है यहाँ सुजान! ॥१५७॥

यहाँ लोक के एक भाग मे वे नारक रहते है, जान।
काल-विभाग चतुर्विध उनका, यहाँ कहूँगा अब, मतिमान! ॥१५८॥

सतत प्रवाह अपेक्षा से वे यहाँ अनादि अनन्त रहे।
स्थिति सापेक्षतया वे नारक सादि सान्त फिर स्पष्ट कहे ॥१५९॥

प्रथम नरक मे आयु-स्थिति उत्कृष्ट एक सागर-उपमान।
जघन्यत. फिर दस हजार हायन की है समझो मतिमान ॥१६०॥

अब दूसरी नरक मे आयु-स्थिति उत्कृष्ट तीन सागर।
जघन्यत. फिर उस शर्कराप्रभा की जान एक सागर ॥१६१॥

अब तीसरी नरक मे आयु-स्थिति उत्कृष्ट सात सागर।
जघन्यत फिर उस बालुकाप्रभा की जान तीन सागर ॥१६२॥

चौथी पृथ्वी मे आयु-स्थिति दश सागर उत्कृष्ट विधान।
जघन्यत है सात सागरोपम की आयु-स्थिति पहचान ॥१६३॥

अब पाँचवी नरक-आयु-स्थिति जघन्यत. दश सागर मान।
धमाभा की उत्कृष्टायु-स्थिति सतरह सागर-उपमान ॥१६४॥

छठी नरक मे जघन्यत आयु-स्थिति है सतरह सागर।
तम.प्रभा की उत्कृष्टायु-स्थिति है द्वाविंशति सागर ॥१६५॥

अब सातवी नरक आयु-स्थिति जघन्य द्वाविंशति सागर।
तमस्तमा की उत्कृष्टायु-स्थिति है तीन तीस सागर ॥१६६॥

नारक जीवो की जितनी है अपनी आयु-स्थिति-परिमाण।
जघन्यतया उत्कृष्टतया उतनी ही काय-स्थिति पहचान ॥१६७॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त है उत्कृष्ट अनन्त काल परिमाण।
नारक जीवो का फिर वही जन्म लेने का अन्तर जान ॥१६८॥

वर्ण, गध फिर रस, स्पर्श, सस्थान अपेक्षा से पहचान।
उनके फिर यो भेद हजारो होते है समझो मतिमान ! ॥१६९॥

अब तिर्यंग् पंचेन्द्रिय प्राणी दो प्रकार से वर्णित जान।
सम्मूर्छिम-तिर्यञ्च और गर्भज-तिर्यञ्च भेद पहचान ॥१७०॥

इन दोनो के तीन-तीन फिर कहे विभेद यहाँ पहचान।
जलचर, स्थलचर, खेचर हैं, अब इनके भेद सुनो मतिमान ! ॥१७१॥

अब फिर जलचर पाँच प्रकार कहे हैं जो कि यहाँ ज्ञातव्य।
मत्स्य व कच्छप, ग्राह, मकर, फिर ससुमार सज्ञा बोधव्य ॥१७२॥

वे सर्वत्र न व्याप्त व लोक एक भाग स्थित है मतिमान !
काल-विभाग चतुर्विध उनका यहाँ कहूँगा अब पहचान ॥१७३॥

सतत प्रवाह अपेक्षा से वे यहाँ अनादि अनन्त रहे।
स्थिति सापेक्षतया वे जलचर सादि सान्त फिर स्पष्ट कहे ॥१७४॥

जलचर की आयु-स्थिति जघन्यत है अन्तर्मुहूर्त मान।
उत्कृष्टायु स्थिति है उनकी एक करोड़ पूर्व की जान ॥१७५॥

जलचर की काय-स्थिति जघन्यत है अन्तर्मुहूर्त मान।
फिर उत्कृष्टतया काय-स्थिति पृथक्त्व कोटि पूर्व परिमाण ॥१७६॥

जघन्यत अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट अनन्त काल परिमाण।
जलचर जीवो का फिर वही जन्म लेने का अन्तर जान ॥१७७॥

वर्ण, गध फिर रस, स्पर्श, सस्थान अपेक्षा से पहचान।
उनके फिर यो भेद हजारो होते है समझो मतिमान ! ॥१७८॥

चतुष्पाद, परिसर्प भेद से दो प्रकार स्थलचर ज्ञातव्य।
चतुष्पाद, फिर चार प्रकार कहे हैं मुझसे सुन तू भव्य ! ॥१७९॥

प्रथम एक-खुर फिर दो-खुर फिर गडी-पद व सनख-पद जान ।
हय आदिक, गो-महिषादिक, गज आदिक, सिंहादिक पहचान ॥१८०॥

भुज-परिसर्प व उर-परिसर्प उभय ये परिसर्पों के भेद ।
गोहादिक, सर्पादिक फिर इन दोनो के हैं विविध प्रभेद ॥१८१॥

वे सर्वत्र न होते, लोक एक भाग स्थित है मतिमान ।
काल-विभाग चतुर्विध उनका यहाँ कहूँगा अब पहचान ॥१८२॥

सतत प्रवाह अपेक्षा से वे यहाँ अनादि अनन्त रहे ।
स्थिति सापेक्षतया वे स्थलचर जीव सादि फिर सान्त कहे ॥१८३॥

स्थलचर की आयु-स्थिति जघन्यत है अन्तर्मुहूर्त मान ।
स्थिति उत्कृष्टतया उनकी पहचानो तीन पल्य परिमाण ॥१८४॥

स्थलचर की काय-स्थिति जघन्यत है अन्तर्मुहूर्त मान ।
तीन पल्य फिर पृथक्त्व कोटि पूर्व ज्यादा उत्कृष्ट विधान ॥१८५॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त है उत्कृष्ट अनन्त काल परिमाण ।
स्थलचर जीवो का फिर वही जन्म लेने का अन्तर जान ॥१८६॥

वर्ण, गध फिर रस, स्पर्श, सस्थान अपेक्षा से पहचान ।
उनके फिर यो भेद हजारों होते है समझो मतिमान ! ॥१८७॥

खेचर पक्षी चार प्रकार कहे हैं जो कि यहाँ बोधव्य ।
चर्म, रोम पक्षी, समुद्र पक्षी व वितत पक्षी ज्ञातव्य ॥१८८॥

वे सर्वत्र न व्याप्त व लोक एक देश स्थित हैं खेचर ।
काल-विभाग चतुर्विध उनका यहाँ कहूँगा अब स्फुटतर ॥१८९॥

सतत प्रवाह अपेक्षा से वे यहाँ अनादि अनन्त कहे ।
स्थिति सापेक्षतया वे खेचर सादि सान्त फिर स्पष्ट रहे ॥१९०॥

खेचर की आयु-स्थिति जघन्यत है अन्तर्मुहूर्त मान ।
अधिकाधिक स्थिति पल्योपम के असंख्यातवे भाग प्रमाण ॥१९१॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट खेचर काय-स्थिति जान ।
पृथक्त्व कोटि पूर्व ज्यादा हैं पल्य असंख्य भाग परिमाण ॥१९२॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त है उ,कृष्ट अनन्त काल परिमाण ।
खेचर जीवो का फिर वही जन्म लेने का अन्तर जान ॥१९३॥

वर्ण, गंध फिर रस, स्पर्श, सस्थान अपेक्षा से पहचान।
उनके फिर यो भेद हजारो होते है समझो मतिमान ! ॥१९४॥

मनुष्य के दो भेद कहे है, वे अब मुझसे सुन मतिमान !
सम्मूर्छिम फिर गर्भज मानव की सज्ञा से तू पहचान ॥१९५॥

गर्भज मानव के फिर तीन विभेद कहे है यहाँ सुजान !
अकर्मभूमिक और कर्मभूमिक फिर अन्तर्द्वीपक जान ॥१९६॥

पन्द्रह, तीस तथा फिर अट्ठाईस भेद क्रमश. जानो।
इन तीनो के इतने होते है विभेद तुम पहचानो ॥१९७॥

गर्भज के जितने ही सम्मूर्छिम के होते भेद सुजान !
सभी लोक के एक भाग मे ही वे रहते हैं मतिमान ! ॥१९८॥

सतत प्रवाह अपेक्षा से वे सभी अनादि अनन्त रहे।
स्थिति सापेक्षतया वे सारे सादि सान्त-फिर यहाँ कहे ॥१९९॥

फिर उनकी आयु-स्थिति जघन्यत है अन्तर्मुहूर्त मान।
उत्कृष्टायु-स्थिति उनकी पहचानो तीन पल्य उपमान ॥२००॥

जघन्यत अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट मनुज काय-स्थिति जान।
तीन पल्य फिर पृथक्त्व कोटि पूर्व ज्यादा समझो मतिमान ! ॥२०१॥

यह काय-स्थिति कही तथा फिर अब उनका अन्तर पहचान।
जघन्य अन्तर्मुहूर्त है उत्कृष्ट अनन्त काल परिमाण ॥२०२॥

वर्ण, गध फिर रस, स्पर्श, सस्थान अपेक्षा से पहचान।
उनके फिर यो भेद हजारों होते हैं समझो मतिमान ! ॥२०३॥

अब देवो के चार भेद होते है मुझ से सुन मतिमान !
भवनाधिप, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक भेद प्रधान ॥२०४॥

कहे भवनवासी दशधा, फिर व्यन्तर के हैं आठ प्रकार।
पाँच भेद ज्योतिष्क सुरो के, वैमानिक के उभय प्रकार ॥२०५॥

असुर नाग व सुपर्ण तथा विद्युत्कुमार फिर अग्निकुमार।
द्वीप, उदधि, दिग्, वायु व स्तनितकुमार-भवनपति देव विचार ॥२०६॥

पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर फिर है किंपुरुष, प्रधान।
और महोरग फिर गन्धर्व, अष्टधा यो व्यन्तर पहचान ॥२०७॥

चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र और फिर ग्रह, तारा यो पाँच प्रकार।
दिशा विचारी ये ज्योतिष्क देव होते हैं शिष्य! विचार ॥२०८॥

वमानिक देवों के दो प्रकार होते है, जो ज्ञातव्य।
कल्पोपग फिर कल्पातीत नाम से तुम पहचानो भव्य! ॥२०९॥

कल्पोपग बारह प्रकार हैं सुर सौधर्म और ईशानक।
सनत्कुमार और माहेन्द्र व ब्रह्मलोक सुर फिर सुर लान्तक ॥२१०॥

महाशुक्र फिर सहस्रार आनत, प्राणत सुर भेद विचार।
आरण, अच्युत, कल्पोपग देवों के ये पहचान प्रकार ॥२११॥

कल्पातीत देव फिर दो प्रकार से कथित यहाँ मतिमान।
ग्रैवेयक व अनुत्तर, ग्रैवेयक नवधा निम्नोक्त सुजान! ॥२१२॥

अध-अधस्तन, तत. अधः-मध्यम है भेद दूसरा जान।
अध.-उपरितन फिर है मध्य-अधस्तन चौथा भेद महान ॥२१३॥

और मध्य-मध्यम फिर मध्य-उपरितन छट्ठा भेद सुजान!
उपरि-अधस्तन ततः उपरि-मध्यम है भेद आठवाँ जान ॥२१४॥

उपरि-उपरितन नौवाँ है यो ग्रैवेयक सुर हैं आख्यात।
विजय वैजयन्ताख्य जयन्त व अपराजित संज्ञा विख्यात ॥२१५॥

हैं सर्वार्थ-सिद्धवासी, ये पाँच प्रकार अनुत्तर देव।
यो वैमानिक सुर अनेकधा होते हैं समझो स्वयमेव ॥२१६॥

वे सारे ही देव, लोक के एक भाग मे स्थित पहचान।
काल-विभाग चतुर्विध उनका यहाँ कहूँगा सुन मतिमान! ॥२१७॥

सतत प्रवाह अपेक्षा से वे देव अनादि अनन्त रहे।
स्थिति सापेक्षतया वे सारे सादि सान्त फिर यहाँ कहे ॥२१८॥

भवनवासियो की जघन्य आयु-स्थिति दश हजार हायन है।
उत्कृष्टायु-स्थिति उनकी फिर साधिक एक सागरोपम है ॥२१९॥

व्यन्तर देवो की जघन्य स्थिति दश हजार हायन परिमाण।
उत्कृष्टायु-स्थिति उन देवो की है एक पल्य-उपमान ॥२२०॥

जघन्य स्थिति ज्योतिष्क सुरो की पल्य आठवें भाग प्रमाण।
अधिकाधिक है एक पल्य से लाख वर्ष ज्यादा, पहचान ॥२२१॥

अब सौधर्म सुरो की जघन्य स्थिति है एक पल्य परिमाण।
उत्कृष्टायु-स्थिति उनकी दो सागर को है स्पष्ट विधान ॥२२२॥

सुर ईशानो की जघन्य स्थिति साधिक एक पल्य पहचान।
उत्कृष्टायु-स्थिति उनकी है साधिक दो सागर परिमाण ॥२२३॥

सनत्कुमार सुरो को जघन्य स्थिति है दो सागर परिमाण।
उत्कृष्टायु-स्थिति उनकी है सात सागरोपम पहचान ॥२२४॥

अब माहेन्द्र सुरो की जघन्य स्थिति साधिक दो सागर मान।
उत्कृष्टायु-स्थिति उनकी है साधिक सागर सात प्रमाण ॥२२५॥

ब्रह्मलोक देवो की जघन्यत. आयु-स्थिति सागर सात।
उत्कृष्टायु-स्थिति उनकी दश सागर की होती अवदात ॥२२६॥

लान्तक देवों की जघन्यतः आयु-स्थिति दश सागर मान।
उत्कृष्टायु-स्थिति उनकी चौदह सागर की है पहचान ॥२२७॥

महाशुक्र देवो की जघन्यतः चौदह सागर परिमाण।
उत्कृष्टायु-स्थिति उनकी सतरह सागर की है पहचान ॥२२८॥

सहस्रार देवो की जघन्यत सतरह सागर परिमाण।
उत्कृष्टायु-स्थिति उनकी अष्टादश सागर की पहचान ॥२२९॥

आनत देवो की जघन्य स्थिति अष्टादश सागर परिमाण।
उत्कृष्टायु-स्थिति उनकी उन्नीस सागरोपम की जान ॥२३०॥

प्राणत देवों को जघन्य उन्नीस सागरोपम परिमाण।
उत्कृष्टायु-स्थिति है उनकी बीस सागरोपम पहचान ॥२३१॥

आरण देवो की जघन्य स्थिति बीस सागरोपम पहचान।
उत्कृष्टायु-स्थिति उनकी इक्कीस सागरोपम मतिमान ॥२३२॥

अच्युत देवो की जघन्य आयु-स्थिति एक बीस सागर।
उत्कृष्टायु-स्थिति उनकी बाईस सागरोपम की वर ॥२३३॥

प्रथम ग्रैवेयक की जघन्यत. बाईस सागरोपम है।
उत्कृष्टायु-स्थिति उन देवो की तेईस सागरोपम है ॥२३४॥

अब द्वितीय की जघन्यत तेईस सागरोपम परिमाण।
उत्कृष्टायु-स्थिति उसकी चौबीस सागरोपम पहचान ॥२३५॥

अब तृतीय की जघन्यत चौबीस सागरोपम परिमाण।
उत्कृष्टायु-स्थिति उसकी पच्चीस सागरोपम पहचान ॥२३६॥

अब चौथे की जघन्यत पच्चीस सागरोपम परिमाण।
उत्कृष्टायु-स्थिति उसकी छब्बीस सागरोपम पहचान ॥२३७॥

पचम ग्रैवेयक की जघन्यतः छब्बीस सागरोपम है।
उत्कृष्टायु-स्थिति उसकी फिर सत्ताईस सागरोपम है ॥२३८॥

छट्ठे ग्रैवेयक की जघन्यतः है सात बीस, सागर।
उत्कृष्टायु-स्थिति है अट्ठाईस सागरोपम की वर ॥२३९॥

सप्तम ग्रैवेयक की जघन्यत. है आठ बीस सागर।
उत्कृष्टायु-स्थिति उसकी उनतीस सागरोपम सुन्दर ॥२४०॥

अष्टम की स्थिति जघन्यतः उनतीस सागरोपम परिमाण।
उत्कृष्टायु-स्थिति है उसकी तीस सागरोपम पहचान ॥२४१॥

नौवे ग्रैवेयक की जघन्यत है तीस सागरोपम।
उत्कृष्टायु-स्थिति उसकी फिर है इकतीस सागरोपम ॥२४२॥

विजयादिक चारो की जघन्यत. है इकतीस सागर।
उत्कृष्टायु-स्थिति उन देवो की है तीन तीस सागर ॥२४३॥

अब अजघन्य व अनुत्कृष्ट तैतीस सागरोपम पहचान।
है सर्वार्थसिद्ध देवो की आयु-स्थिति का यह परिमाण ॥२४४॥

देवो की आयु-स्थिति जितनी है उतनी ही तू पहचान।
जघन्यत या फिर उत्कृष्टतया काय-स्थिति है मतिमान ! ॥२४५॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त है उत्कृष्ट अनन्त काल परिमाण।
देवो का फिर वही जन्म लेने का अन्तर है यह जान ॥२४६॥

वर्ण, गध फिर रस, स्पर्श, सस्थान अपेक्षा से पहचान।
उनके फिर यो भेद हजारो होते है समझो मतिमान ! ॥२४७॥

संसारी व सिद्ध जीवों का यहाँ विवेचन किया गया।
रूपी और अरूपी अजीवो का भी विवरण दिया गया ॥२४८॥

जीव-अजीव विवेचन सुन, यो उसमे श्रद्धा करे श्रमण।
सभी नयो से अनुमत, श्रमण-धर्म मे मुनिवर करे रमण ॥२४९॥

तत. बहुत वर्षों तक संयम का पालन कर महामुनी।
फिर इस क्रमिक प्रयत्न प्रवर से निज आत्मा को कसे गुणी॥२५०॥

है उत्कृष्टतया बारह वर्षो की सलेखना सुजान।
मध्यमत: है एक वर्ष की जघन्यतः छह मास प्रमाण॥२५१॥

पहले चार वत्सरो मे सब विकृति-विवर्जन श्रमण करे।
अपर चार वर्षों मे फिर नानाविध तप-आचरण करे॥२५२॥

फिर दो वर्षो तक आचाम्ल सहित एकान्तर सतत करे।
फिर छह मासाऽवधि तक नही विशिष्ट तपस्या ग्रहण करे॥२५३॥

फिर छह मास विकृष्ट तपस्या करे यहाँ पर महामुनी।
इस पूरे संवत्सर मे परिमित आचाम्ल करे सुगुणी॥२५४॥

अन्तिम हायन मे फिर मुनिवर कोटि सहित आचाम्ल करे।
तत पक्ष या एक मास तक भोजन का परिहार करे॥२५५॥

कांदर्पी व आभियोगी, मोहो व आसुरी है किल्बिषिकी।
ये सब दुर्गति है, विराधना करती मरण समय दर्शन की॥२५६॥

मिथ्यादर्शन रक्त और सनिदान तथा हिंसक होकर।
जो मरते हैं जीव यहाँ उनको फिर बोधि महा दुष्कर॥२५७॥

सम्यग्दर्शन-रत, अनिदान शुक्ल लेश्या में प्रवर्नमान।
जो मरते जीव उन्हे फिर सम्यग्दर्शन सुलभ सुजान॥२५८॥

मिथ्यादर्शन-रत सनिदान कृष्ण लेश्या मे प्रवर्तमान।
जो मरते है जीव उन्हे फिर बोधि महा दुर्लभ पहचान॥२५९॥

जिन वचनो मे रक्त व उनमे करते रमण भाव पूर्वक नर।
असक्लिष्ट, निर्मल, परीत-संसारी हो जाते साधक वर॥२६०॥

जो जिन वचनों को न जानते वे बेचारे फिर बहु बार।
करते यहाँ रहेगे, बाल-मरण व अकाम-मरण हर बार॥२६१॥

समाधि-उत्पादक, बहु-आगम-विज्ञ, गुणग्राही होते हैं।
इन्ही गुणो से आलोचना-श्रवण अधिकारी वे होते हैं॥२६२॥

कंदर्पक कौत्कुच्य व शील-स्वभाव-हास्य-विकथाओं से फिर।
पर को विस्मित करता वह कदर्प भाव को आचरता नर॥२६३॥

सुख-रस और समृद्धि हेतु जो मंत्र, योग या भूति-कर्म का।
जो प्रयोग करता है वह सेवन करता अभियोग भाव का ॥२६४॥

ज्ञान, केवली, धर्माचार्य-सघ फिर मुनियो की जो करता।
निन्दा, वह मायावी फिर किल्बिषी भावना को आचरता ॥२६५॥

सतत क्रोध को जो कि बढ़ावा देता, निमित्त कहता है।
इन्ही कारणो से आसुरी भावना में वह बहता है ॥२६६॥

शस्त्र-ग्रहण कर, विष-भक्षण कर, जल कर, जल मे गिर कर मरता।
अधिक उपकरण जो रखता वह जन्म-मरण का पोषण करता ॥२६७॥

भव्य जीव-सम्मत छत्तीस उत्तराध्ययनों का यो स्फुटतर।
प्रादुष्करण किया परिनिर्वृत बुद्ध ज्ञात-वंशज ने सुन्दर ॥२६८॥

अशुद्धी--पत्र

दशवैकालिक

उत्तराध्ययन

पृष्ठ	अध्ययन	पद्य	अशुद्ध	शुद्ध
0	मगलाचरण	2	सदव	सदैव
2	2	5	निजको तपा	निजको तपा व
6	4	19	और चतुरिन्द्रिया	और सब चतुरिन्द्रिया
7	4	32	झट	झूठ
19	5	55	पूतिकर्म	पूतिकर्म
28	6	18	सग्रहेच्छक	सग्रहेच्छुक
30	6	51	देखता	देखा
31	6	61	पाली	पोली
	6	63	आदि हो	आदि ही
34	7	29	बोल	बोले
35	7	36	जमीन	जीमन
	7	37	जमीनवार को जमीन	जामनवार को जीमन
36	7	50	नहो	नही
37	8	4	भीत भ	भीत भू
38	8	18	श्लेष्मा	श्लेष्म
39	8	29	अचपल न	अचपल व
40	8	38	क्राघ	क्रोध
	8	39	क्राघ	क्रोध
41	8	49	स्खलिता	स्खलित
44	9-1	12	का या	काया
	9-1	15	पणिमा	पूर्णिमा
46	9-2	( )	बठा	बैठा
51	10	2	भ	भू
	10	5	ज्ञातपुत्र का	ज्ञातपुत्र-वच
	10	8	सप्राप्त	सप्राप्त सही
54	चूलिका-1	2	ह्य	हय
	चू-1	8	है गृही	गृही
213	प्रशस्ति	3	जीव	जीत

उत्तराध्ययन

पृष्ठ	अध्ययन	पद्य	अशुद्ध	शुद्ध
63	1	28, 34	कट, नीचे	कटु, नीचे से
64	1	44	बिनती	बिनयी
65	2	6	भिक्ष	भिक्षु
67	2	34	सोचे, क	सोचे करे
68	2	41	दान, लान	दीन, लीन
69	2	54	झठ	झूठ
71	3	19	भोगों का	भोगो को
74	5	1	यतिमान	मतिमान
75	5	20	एक, अवश्य······प्र	एक एक, अवश्य प्राप्त
76	5	27	दीर्घायु व समृद्ध	दोर्घायु समृद्ध व
77	6	7	पात्र दन्त	पात्रदत्त
78	6	16	अप्रमत्त रहे	अप्रमत हो रहे
79	7	4	नर आयुष्य, कर सचय	नरकाऽऽयुष्य, सचितकर
80	7	13	दुर्मते है, द्विविधि	दुर्मति है, द्विविध
81	8	8	तीर्थंकरो	तोर्थंकरो
82	8	18	अनेक चिन्ता	अनेक चिता
83	9	1	उपशान्त	वह उपशान्त
84	9	18, 21	बनाकर, ईर्ष्या	बनवाकर, ईर्या
86	9	46, 51	वसन कास्य, अभ्यदय	वसन व कांस्य, अभ्युदय
91	11	1	भिक्ष	भिक्षु
92	11	25, 26	मी, होता त्यो	भी, होता है त्यो
94	12	5	व बाल	वे बाल
95	12	19	बेत	बेंत
96	12	31, 36	होते है, दुन्दुभि	होते, दुन्दुभी
98	13	12	हे यत्न से	प्रयत्न से
99	13	13, 19, 22	घर का, विकल, माता पिता	घरका, विफल, मातपिता
102	14	13	दुख, सुख	दुख, प्रकाम दुख सुख
103	14	34, 40	सर्प केचुली, त्राण भत	सर्प केचु लो, त्राण भूत
104	14	42	सपेक्ष	सपेख

पृष्ठ	अध्ययन	पद्य	अशुद्ध	शुद्ध
107	16	8	युक्त	युत
110	16	44	नारि के	नारी के
111	16	56	प्रणामन	प्रणमन
113	17	12	असदाचारी	अ सदाचारी
121	19	50, 52	बालू मे, अनन्त अति दुष्कर	बालू मे कि अनन्त, दुष्कर
122	19	64	वेजान	वे भान
125	19	96	इस भाति	इसी भाति
130	20	59	प्रदक्षिण	प्रदक्षिगा
133	22	4, 9	शिवा नामक,सर्वोषधि	शिवा नाम की, सवौषधि,
135	22	36	ने वचन	ने यह वचन
137	23	2	लोक प्रकाशन	लोक प्रकाशक
138	23	23	रहा	कहा
141	23	58, 66	दोड, मात्र नही	दौड, मात्र भी नही
145	24	12, 18, 22	एषणा अचित, प्रकार की कहो	एषण, अचित्त प्रकार कही
146	25	5	पारण कार्य	पारणकाय
148	25	14	तुम्हो	तुम्ही
149	25	( ),35	बान्धव को, कहा उसने	बान्धव गण को, कहा है उसने
150	25	40, 43	भीतपर, विनय घोष	भीतपर, विजयघोप
151	26	1	का	को
		4	कहो	कही
		8, 7	समाचारियाँ, गुरु को	समाचारी यो, गुरुवर को
		11	प्रविक्षण	प्रविचक्षण
152	26	14	परिणाम	परिमाण
152	26	15, 23	भाद्र व, मुखवस्त्रिका	भाद्रत्र मुखवस्त्री का
153	26	29, 31	प्रतिलेखना में, तोसरे मे	प्रतिलेखन मे, तीसरे मे
155	27	3, 6	टट, कोई	टूट, कोई कोई
157	28	3, 10	हैं अधमल, लक्ष्य	है झट अधमल, लक्ष्म
160	29	2, 10	रखक, त्याग फिर	रखकर, त्याग तथा फिर
161	29	16	क्रोध	क्रुध्
162	29	34	संयुक्त	सयुत
163	29	50, 52	का, करदेता है शीघ्र	का, करदेता शीघ्र

पृष्ठ	अध्ययन	पद्य	अशुद्ध	शुद्ध
164	29	59, 61	अनुपेक्षा, ता	अनुप्रेक्षा, तो
166	29	85	किंचित्	किंचित्
167	29	96	हलके मन को,	हलकेपन को
		100	अपुनरावृत्तिकर	अपुनरावृत्ति प्राप्त कर
		102	क्या फल	क्या फल है
170	29	145	अघ को धुनता	अघ धुनता
171	29	153	अन्तर्मुहूर्त मितमे रह,	अन्तर्मुहूर्त रह
	29	155	नाम का ध्यान	नाम का शुक्ल ध्यान
173	30	22	मुझ का	मुझको
174	30	32	गुरुजनो को	गुरुजन को
176	31	13	अध्ययन	अध्ययनों
178	32	17	नारी दुस्तर	नारी सम दुस्तर
179	32	31	झट	झूठ
	32	33	द्वप रत	द्वेवरत
180	32	51	क्षण पाता	क्षण वह पाता
183	32	88	बनता द्वेप	बनता फिर द्वेप
184	32	102	वेद विविध	वेद यो विविध
187	34	9	कुद कुसुम	कुन्द कुसुम सम
188	34	17	केशरी	केशर
192	35	12	प्रसरणील	प्रसरणशील
198	36	65	और वहुत	और वहुत्व
201	36	[illegible]	लोक व्याप्त	लोक में व्याप्त
205	36	164	घमाभा	धूमाभा
207	36	192	अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट खेचर,	अन्तर्मुहूर्त है उत्कृष्ट खचर
210	36	222	सुरो को	सुरो को
	36	229	देवों को	देवो को
211	36	238	ग्रवेयक	ग्रैवेयक
	36	243	इकतीस	एकतीस
212	36	258	जो मरते जीव	जो मरते हैं जीव

प्रशस्ति

[१]

प्रखर प्रकाश-पुज से मिथ्याध्वान्त जिन्होने ध्वस्त किया ।
भूले-भटके पथिको को अनुपम पथ एक प्रशस्त दिया ॥१॥
उन्ही भिक्षु स्वामी के चरण-कमल मे वन्दन शत-शत बार ।
उनकी दया-दृष्टि से तेरापथ आज अनुपम गुलजार ॥२॥
भारमल्ल ऋषिराय जीव मघ माणक डालिम कालूराम ।
भैक्षवगण में एक-एक से बढकर गणपति हुए ललाम ॥३॥
वर्तमान मे तुलसी-युग अणुव्रत-माध्यम से बोल रहा ।
भौतिकता से दबे हुए अध्यात्म पृष्ठ को खोल रहा ॥४॥
धन्य भाग्य है मेरा तुलसी जैसे गुरुवर को पाकर ।
जीवन सफल बनाऊँ गुरु-निर्दृष्ट पथ को अपनाकर ॥५॥
तेरापथ की द्विशताब्दी पर मंजुल मुदित "मुकुल" उपहार ।
श्री दशवैकालिक पद्यानुवाद गुरुवर करिए स्वीकार ॥६॥
दो हजार सोलह आषाढीसित सप्तमी हस्त रविवार ।
हुई सुखद् आमेट शहर मे, मासिक रचना यह तैयार ॥७॥

[२]

भिक्षु भारीमाल फिर ऋषिराय पटधर जीत थे ।
प्रवर मघवा गणी माणक डाल कालु पुनीत थे ॥१॥
नवम गुरु आचार्य तुलसी जैन शासन-अग्रणी ।
आज उज्ज्वल कीर्ति जिनकी विश्व मे विस्तृत बनी ॥२॥
अणुव्रत के मिशन को ले भ्रमण भारत मे किया ।
स्वय आ उपराष्ट्रपति ने ग्रथ भेट जिन्हे किया ॥३॥
तत्कृपया सन्नद्ध शिष्य मुकुल ने [illegible]या ।
हिन्दी पद्याबद्ध सूत्र उत्तराध्ययन को ॥४॥
दो हजार उन्नीस चैत्र की असित पचमी दिन भृगु वार ।
पूर्ण हुई कृति सतराज सह जीद शहर मे धर्म प्रचार ॥५॥
सूक्ष्म दृष्टि से पुन निरीक्षण, सशोधन है किया गया ।
गहराई से मौलिकता पर ध्यान यथोचित दिया गया ॥६॥
दो हजार इकतीस साल का धन मुनि के सह वर्षावास ।
अपर भाद्रपद असित द्वादशी पचपदरा मे पूर्ण प्रयास ॥७॥
निर्वाणोत्सव आ रहा, पचीससौवाँ सार ।
श्रद्धाञ्जलि मुनि मुकुल की, वीर ! करो स्वीकार ॥८॥